945 से प्रकाशित

नवंबर, 2012 दस रुपये

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक



बाल साहित्य पर विशेष

सत्यमेव जयते

[वना एवं प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार



श्रीमती सोनिया गांधी
अध्यक्ष, यूपीए



डॉ. मनमोहन सिंह
प्रधानमंत्री

"मुझे मिला सुरक्षित मातृत्व का हक़।
आपने लिया अपना हक़?"



- 1 करोड़ से अधिक गर्भवती महिलाओं को लाभ
- एम्बुलेंस सेवा सहित प्रसव से जुड़ी सभी चिकित्सा सुविधाएं मुफ़्त, नवजात शिशु की भी मुफ़्त चिकित्सा

जननी
शिशु सुरक्षा
कार्यक्रम

भारत निर्माण
सबका हित. सबका हक़.

AH-166/2012

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 68; अंक : 7; पूर्णांक : 817
नवंबर 2012; कार्तिक-अग्रहायण 1934

वरिष्ठ संपादक
राजेन्द्र भटूट

संपादक
फरहत परवीन

आवरण : **पौनमी बक्शी**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915

website :
www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 100 रुपये; दो वर्ष : 180 रुपये;
तीन वर्ष : 250 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 530 रुपये
शेष विश्व : 730 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
सूर्यकांत शर्मा
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066
फ़ोन : 26100207 / 26175516
ई-मेल : pdjucir_jcm@yahoo.co.in

टाइपसेट : **ज्योति लेजर टाइप सेटिंग**

इस अंक में

लेख

2. प्रसंगवश
3. पत्र
5. प्रेमचंद ने कई पीढ़ियों के बचपन को संवारा — **प्रकाश मनु**
8. बाल साहित्य के अप्रतिम-सर्जक : अमृतलाल नागर — **बंधु कुशावर्ती**
11. बाल साहित्य : परंपरा और आधुनिकता बोध — **विजयशंकर मिश्र**
13. लिखना ही मेरी उपलब्धि है! (साक्षात्कार) — **शिप्रा सिंह**
19. बाल साहित्य की चुनौतियां — **क्षमा शर्मा**
21. बाल साहित्य और विज्ञान लेखन — **ओमप्रकाश कश्यप**
25. बाल पहेली की निरक्षर कवयित्री — **बनवारी लाल ऊमर वैश्य**
30. बाल-पत्रिकाओं का अभाव — **प्रांजल धर**
32. यह कैसी पढ़ाई? — **संजीव ठाकुर**
34. ज़रूरत नहीं है दुखहरण मास्टर की — **सुषमा झा**
38. साहित्य-कला के प्रति नेहरू के सरोकार — **प्रदीप पंत**
42. हिंदी के श्रेष्ठ शिशु बाल गीत — **सुरेंद्र वर्मा**
46. अब लोरियां नहीं उतरतीं माताओं की जिह्वा पर — **मृदुला सिन्हा**
48. पंजाबी लोरियां : परंपरा और वर्तमान — **दर्शन सिंह 'आशट'**

कहानी

15. आप दिल पर न लीजिएगा — **विनायक**
36. आख़िरी सीन — **जीलानी बानो**
44. नया सूर्य — **सुरजीत**

कविताएं

25. सड़क पर बचपन — **सुजाता वीरेश**
28. दो कविताएं — **प्रकाश मनु**
45. पांच कविताएं — **अशोक विश्वकर्मा**

51. **पुस्तक समीक्षा**

आवरण III : तीन बाल कविताएं

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260; **लखनऊ:** हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455; **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 33-22488030; **पटना :** विहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 0612-2683407; **मुंबई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुंबई, दूरभाष : 9522-27570686; **बंगलौर :** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244; **हैदराबाद :** ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कॉम्प्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली; दूरभाष :040- 24605383; **चेन्नई :** गांधीजी भवन, वेसंट नगर; दूरभाष : 044-24917673; **तिरुअनंतपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश...

साहित्य समाज का दर्पण है। प्रत्येक साहित्यिक विधा तत्कालीन परिस्थितियों की उपज होती है। हिंदी साहित्य का क्षेत्र विस्तृत और विविधता लिए हुए है। बाल साहित्य का आरंभ सदियों से वाचिक परंपरा के रूप में हुआ। हिंदी में बाल पुस्तकों का विकास भारत की अन्य भाषाओं–बांग्ला, तमिल, मलयालम और मराठी के बाद हुआ। पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरितसागर आदि अपनी श्रेष्ठता के कारण आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं। दादी-नानी की कहानियों से बाल साहित्य की शुरुआत हुई। भारतेंदु युग ने इस साहित्य को समृद्ध किया फिर बाद के दशकों में इसमें निरंतर जागरूकता और गंभीरता आती गई।

जहां पहले परीकथा, जादू-टोना और रहस्य-रोमांच वाले प्रसंग बाल मन को यथार्थ से परे फंतासी की दुनिया में ले जाते थे, वहीं वर्तमान में अपार सुविधाएं, शिक्षा के प्रचार-प्रसार, वैज्ञानिक चेतना के चलते बाल साहित्य में भारी परिवर्तन आया है। बाल साहित्य की लोकप्रियता का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 'हैरी पाटर' की 32 करोड़ से अधिक प्रतियां विश्व में अब तक बिक चुकी हैं। किंतु हिंदी बाल साहित्य में ऐसी स्थिति अभी नहीं बनी है। विज्ञान की प्रगति ने, संचार और सूचना क्रांति ने हिंदी साहित्य में यद्यपि सार्थक परिवर्तन किया है, हिंदी साहित्य समृद्ध हो रहा है पर बाल साहित्य का अब भी अभाव है। इसका एक कारण यह भी है कि जिस प्रकार श्रेष्ठ बाल पुस्तकें लिखने वालों की संख्या कम है, उसी प्रकार बाल पाठकों की संख्या भी कम है। साहित्यकार अपने को बाल साहित्यकार के रूप में स्वीकारने में संकोच करते हैं। अभिभावक बच्चों से बहुत अधिक अपेक्षाएं रखने लगे हैं जबकि वे बच्चे को अनुकूल समय नहीं दे पाते। उज्ज्वल भविष्य की चिंता में बचपन खोता जा रहा है। हम बच्चे को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं देते, उनके अधिकारों और इच्छाओं की परवाह नहीं करते। बालमन चंचल और चपल होता है। उसे बदलाव चाहिए। नयापन चाहिए।

बाल साहित्य में पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक तथ्यों, धार्मिक प्रसंगों के अतिरिक्त जासूसी घटनाओं द्वारा मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान का भंडार भी खोला जा सकता है। बाल साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण है–यथार्थ जिसका अभाव है और वैज्ञानिक फंतासी भी कम है। यथार्थ कहानी, विज्ञान, अच्छी जीवनियों, अच्छे बालगीत और बाल समस्याओं से संबंधित साहित्य की कमी अब भी खलती है।

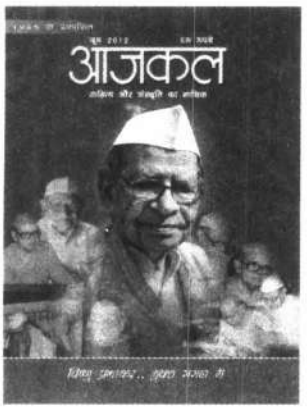
बच्चे का वर्तमान महत्त्व नहीं रखता–महत्त्व रखता है उसका भावी जीवन–यह घोर स्वार्थ भरी प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत होकर हम बच्चों को समय से पहले प्रौढ़ बना देते हैं। वर्तमान में बाल साहित्य भाषा परिवेश से कहीं और भटक रहा है। परिकथा और विज्ञान कथा एक-दूसरे के पूरक हैं। केवल फंतासी से बालक काल्पनिक हो जाता है। उसकी स्वाभाविक जिज्ञासा एवं तर्क शक्ति शून्य हो जाती है। इसी प्रकार विज्ञान कथाएं बच्चे के मानसिक स्तर पर जटिल प्रभाव डालती हैं क्योंकि इनकी भाषा प्रायः रसहीन और बोझिल होती हैं। अतः दोनों में संतुलन की आवश्यकता है। बच्चों के मनोरंजन और मानसिक विकास के लिए ऐसे साहित्य की ज़रूरत है जो बाल मनोविज्ञान के आधार पर गढ़ा गया हो, जो उन्हें यथार्थ से, वास्तविकता से अवगत कराए। बच्चों के मन और सपने में रम कर लिखा गया साहित्य कभी व्यर्थ नहीं जाता।

आज के परिदृश्य में साहित्यिक सेमिनार और संगोष्ठियों में बाल साहित्य, उसकी समस्याओं पर निरंतर परिचर्चा की आवश्यकता है। ऑडियो-वीडियो, इंटरनेट, डिजिटल और ई-पुस्तकों के माध्यम से भी बच्चों तक काफ़ी रचनात्मक सामग्री पहुंचाई जा सकती है।

बाल साहित्य को बाज़ार के विस्तार की भी परम आवश्यकता है। बड़ों के पास बच्चों के लिए सोचने का समय नहीं है। हम सब का दायित्व है कि बाल साहित्य को शिखर तक पहुंचाने के लिए नए-नए विषयों की तलाश करें। पुस्तकों में सरल और सुगम भाषा का प्रयोग करें। पुस्तकों को अधिक-से-अधिक आकर्षक बनाने के लिए रंगीन चित्रों, रेखाचित्रों आदि का प्रयोग करें। साहित्य की अच्छी कृतियों पर टी.वी. धारावाहिक आदि बनने चाहिए ताकि श्रेष्ठ बाल साहित्य को बढ़ावा मिल सके।

बाल साहित्य ने लंबी यात्रा तय की है, विभिन्न उतार-चढ़ाव से गुज़रा है। बच्चों के लिए लिखना आसान नहीं है, लिखने से पहले स्वयं बच्चा बनना पड़ता है। आज प्रकाशन संबंधी आधुनिक सुविधाएं भी उपलब्ध हैं जिसका भरपूर सदुपयोग करके अधिक-से-अधिक बालोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की जा सकती हैं जिससे बालक के मन में नैराश्य की भावना के स्थान पर रचनात्मकता, रोचकता, विविधता के भाव जागृत हों। वे पुस्तकों को बोझ न समझकर अपना सच्चा साथी समझें!

पत्र



कालजयी कृति के रचनाकार

● विष्णु प्रभाकर की जन्मशती पर *आजकल* का जून अंक पूर्व विशेषांकों की कड़ी में बेजोड़ है। *आवारा मसीहा* जैसी कालजयी कृति को लिखने वाले प्रभाकर जी अदम्य जीजिविषा के रचनाकार थे। जिन जीवन-संघर्षों को पार करते हुए साहित्य सृजन की कीर्ति पताका वे फहराते गए वह उन जैसे कर्मठ साहित्यकार के लिए ही संभव था। नब्बे के दशक में इंदौर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका *वीणा* में 'एक दिशाहीन सफ़र' शीर्षक से जब अपनी आत्मकथा धारावाहिक रूप से लिखना शुरू किया तो उसमें प्रभाकर जी ने लिखा है कि उनके लेखन की शुरुआत पत्र-लेखन से हुई। बचपन में वह मामा के यहां रहा करते थे। मामा के यहां आने वाली पत्रिकाओं में जब बच्चों के छपे पत्र देखते तो बड़े उत्साहित होते। एक दिन चुपके से संपादक के नाम पत्र लिखा और लेटर बॉक्स में डाल दिया। पत्र में लिखा 'मेरा छोटा भाई मुझसे बहुत लड़ता है, मैं क्या करूं?' जब यह पत्र *बालसखा* में छपा तो वह बहुत गदगद हुए। उन्होंने लिखा है कि यह पहला अवसर था जैसे नियति ने उन्हें लेखक होने की घोषणा कर दी थी। प्रभाकर जी का पत्र लेखन कभी बंद नहीं हुआ। प्रभाकर जी की मृत्यु के बाद *परिधि* पत्रिका में जब मेरा लेख 'कुंडेवालान के प्रभाकर जी' छपा तो वहां के एक लेखक नेमिचंद्र जैन विनम्र ने प्रभाकर जी के लिखे पत्रों की छाया प्रतियां मेरे पास भेजीं और लिखा कि आज जब लोग चिट्ठी लिखना भूल गए हैं, आधुनिक साधनों ने ख़त लिखने की ज़रूरत ख़त्म कर दी है तब प्रभाकर जी सरीखे लोगों के ख़त बड़ी पूंजी की तरह लगते थे। उन्हें देखकर लगता है आत्मीयता की ऐसी कुंजी अब कहां?

शिप्रा सिंह का लेख 'दर्पण का व्यक्ति' शोधपूर्ण है। जैसे फ़रहाद ने पहाड़ की छाती को तोड़कर जल की धारा निकाल दी थी वही काम प्रभाकर जी ने किया–*आवारा मसीहा* को लेकर राधाकृष्ण की बात अच्छी लगी। अनीता प्रभाकर ने अपने पिता के बड़े अंतरंग और प्रेरक संस्मरण लिखे हैं। प्रभाकर जी पर अन्य लेख शोधपूर्ण व ज्ञानवर्द्धक हैं। प्रभाकर जी की कविताएं भी अच्छी लगीं।

–आनंद स्वरूप श्रीवास्तव, जवाहर विहार कॉलोनी, रायबरेली (उ.प्र.)

कहानी की कमी

● विष्णु प्रभाकर पर केंद्रित अंक पहली बार में ही पूरा पढ़ गया। मुझे याद आता है, आपने विष्णु प्रभाकर पर *आजकल* का एक अंक कई वर्षों पहले निकाला था। उसमें विष्णु प्रभाकर की कहानी 'अब्दुल्ला' छपी थी। कहानी वाक़ई अच्छी थी। परंतु इस अंक में प्रभाकर जी की न तो कोई कहानी शामिल की गई और न ही अन्य सामग्री। केवल कविताएं ही शामिल हैं। इस कारण अंक थोड़ा फीका रह गया।

–कृष्णवीर सिंह सिकरवार, भोपाल

प्रभावशाली व्यक्तित्व

● *आजकल* पत्रिका ने महान साहित्यकार विष्णु प्रभाकर के प्रतिभा एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के दर्शन कराए हैं। विष्णु जी पर केंद्रित अनीता प्रभाकर द्वारा रचित 'तय होंगे ज़िंदगी के कई कोस किस तरह' में साहित्यकार के जीवन के प्रत्येक पहलू सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं साहित्यिक संघर्षों से अवगत कराया गया है, कालजयी लेखक विष्णु प्रभाकर अपनी यादों से आज भी ज़िंदा हैं। 'प्रसंगवश' में उनके व्यक्तित्व को साहित्य की निधि बताकर 'गागर में सागर' भरा गया है।

–जानकी भट्ट, पौड़ी गढ़वाल

स्वयं में साहित्य

● अंक पढ़ा। विष्णु प्रभाकर पर केंद्रित यह विशेषांक सारगर्भित, और सुव्यवस्थित है। आत्मीयता से भरे इस महान व्यक्तित्व पर जितना भी लिखा जाए थोड़ा है। प्रभाकर जी स्वयं में साहित्य थे और साहित्य उनके रोम-रोम में, व्यक्तित्व एवं व्यवहार में रचा-बसा था। जो व्यक्ति सामान्यजनों की भावनाओं, विचारों की इतनी क़द्र करता हो, तरजीह देता हो वो मानवेतर ही हो सकता है।

–नंद किशोर तिवारी, पो. रमणा, वाराणसी (उ.प्र.)

कर्मठ साहित्यकार

● अंक बहुआयामी साहित्यकार विष्णु प्रभाकर को समर्पित है। संपूर्ण रूप से किसी भी प्रसिद्ध साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को कुछ पृष्ठों में समेटना सरल नहीं है–वह भी विष्णु प्रभाकर जैसे विराट लेखक, कवि, पत्रकार को। मैं उनकी रचनाएं 1957 से ही पढ़ता रहा हूं और जब *आवारा मसीहा* पढ़ा तो उनके विराट स्वरूप से मुग्ध-विमुग्ध हो गया। विष्णु जी जैसे कर्मठ और सहृदय व्यक्ति के लिए हज़ार पृष्ठ भी कम पड़ जाएंगे। यह अंक उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने वाला इंसाइक्लोपीडिया है और शोध कार्य करने वालों के लिए विपुल सामग्री उपलब्ध कराता है।

–शिवप्रसाद 'कमल', चुनार, मिर्ज़ापुर (उ.प्र.)

मानवता के प्रति

● यशस्वी साहित्यकार विष्णु प्रभाकर पर केंद्रित अंक पढ़कर सुखद एहसास हुआ। एक साथ इतनी सामग्री देखकर प्रफुल्लित होना स्वाभाविक था। मेरे अंतर्मन की कई गुत्थियां सुलझ गईं। विष्णु प्रभाकर जैसा साहित्यकार विरले ही पैदा होगा। प्रभाकर जी की संपूर्ण लेखनी मानवता के प्रति समर्पित है। *आवारा मसीहा* लिखकर आपने जो मील के पत्थर गाड़े उसे लांघना दुष्कर है।

–नीतिश कुमार, दरभंगा (बिहार)

सुगंधित पुष्प

● अंक हिंदी साहित्य के एक सुगंधित पुष्प विष्णु प्रभाकर के

सुवास से ओतप्रोत, सार्थक और संग्रहणीय है। 'अक्षरों में विष्णु प्रभाकर' एक छोटा-सा साक्षात्कार पदमा सचदेव से ऋतुश्री की बातचीत मन को रोमांचित करने वाली है। सुरेश सलिल का आलेख 'विष्णु प्रभाकर एक अधूरा वृत्तांत' एक अलग ही तरह का वृत्तांत कहता है। इस आलेख के माध्यम से ऐसी बहुत-सी बातों और घटनाओं को जानने का सौभाग्य मिला।

मूर्धन्य साहित्यकार विष्णु प्रभाकर की पुत्री अनीता प्रभाकर अपने पिता के साथ व्यतीत प्रत्येक पल को अपने लिए यादगार मानती हैं। आपने अपनी उन यादों को ही वर्णित किया है। संस्मरणात्मक आलेख 'तय होंगे ज़िंदगी के कई कोस किस तरह!' में बहुत दिनों के पश्चात भावनाओं के अमृत-कलश से भरा आलेख पढ़ने को मिला जिसमें एकाग्र भाव से डूब गया।

डेढ़ सौ से अधिक कृतियां देकर साहित्य-संसार को समृद्ध करने वाले विष्णु प्रभाकर का साहित्य निस्संदेह इस देश और साहित्य-जगत की अनमोल धरोहर है।

आलेख 'कथा-सूत्र खोजने वाला शिल्पी' में शेरजंग गर्ग ने उस अप्रतिम शिल्पी की कीर्ति-कथा कही है, जो हिंदी साहित्य का एक देदीप्यमान नक्षत्र थे। यह पढ़कर थोड़ा आश्चर्य हुआ कि प्रखर आलोचक नामवर सिंह ने उनकी कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' को भावुकतापूर्ण बताकर आधुनिकता की दृष्टि से ख़ारिज कर दिया था। शेरजंग गर्ग का आलेख भावपूर्ण और आत्मीय है।

प्रकाश मनु बाल साहित्य के लेखकों में हिंदी के बड़े क़द के कथाकार और नाट्य शिल्पी विष्णु प्रभाकर के योगदान को ऐतिहासिक महत्त्व का मानते हैं। उनकी क़लम से निकला 'बचपन के रस का झरना' आलेख में बाल साहित्य को गरिमा तथा ऊंचाई प्रदान करने वाले लेखक विष्णु प्रभाकर की एक नई छवि ही नज़र आती है।

–नवनीत कुमार झा, मधुबनी (बिहार)

अभिमत

● इस विशेषांक की सारी सामग्री महत्त्वपूर्ण है। 'दर्पण का व्यक्ति' (शिप्रा सिंह), 'कथाशिल्प खोजने वाला शिल्पी' (शेरजंग गर्ग), 'रेडियो साहित्य का प्रभाकर' (हरेंद्र प्रताप सिंह), 'आवारा मसीहा की मौलिकता...' (कुमार कृष्णन), 'गद्य का एकांतिक साधक' (सुनील विक्रम सिंह), अमरनाथ 'अमर' लिखित 'समय तुम्हें नहीं भूलेगा' और 'तय होंगे ज़िंदगी के कई कोस' (अनीता प्रभाकर) जैसे लेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

–शिवानी, रायबरेली (उ.प्र.)

विपुल साहित्यकार

● विष्णु प्रभाकर ने साहित्य की सभी विधाओं में लिखा। उन्होंने हिंदी साहित्य को विपुल साहित्य दिया। उनके द्वारा लिखी गई शरतचंद्र पर आधारित जीवनी *आवारा मसीहा* उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस रचना को लिखने के लिए उन्होंने बहुत ही श्रम तथा समय ख़र्च किया। उनके कृतित्व तथा जीवन पर विभिन्न लेखकों के संस्मरण पत्रिका को आकर्षक बनाते हैं। अगर पत्रिका में विष्णु प्रभाकर की कुछ कहानियों तथा नाटकों को भी शामिल किया गया होता तो पत्रिका और भी आकर्षक होती।

–शशिकांत त्रिपाठी, गोरखपुर (उ.प्र.)

वैविध्यपूर्ण

● अंक साहित्यकार विष्णु प्रभाकर की जन्मशती विशेषांक के वैविध्यपूर्ण योगदान को दर्शाता है। उनकी साहित्यिक ऊंचाइयों के फलस्वरूप उन्हें भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' जैसे उत्कृष्ट तथा अनेक अन्य पुरस्कारों से भी अलंकृत किया था। उनके रचना-संसार की विपुलता को देखते हुए उन्हें कुछ पंक्तियों में उजागर करना सूर्य को दीपक दिखाने के बराबर है। उनके जीवन की विशिष्ट रचना *आवारा मसीहा* है जिसमें विष्णु प्रभाकर ने शरतचंद्र के संपूर्ण जीवन को बड़े ही कौशल से सजाया-संवारा है। उसे पढ़ते हुए पाठक कभी थकता नहीं।

विष्णु प्रभाकर का कथा-शिल्प बहुत कुछ जैनेंद्र की शैली से मेल खाता है। बालोपयोगी रचनाओं में उनका बाल-मनोविज्ञान गहराई से मन को छू गया है।

वीरेंद्र कुमार घोष ने अपने आलेख में उन्हें कालजयी और पराक्रमी व्यक्तित्व का धनी बताया है। उनके अनुसार विष्णु प्रभाकर ऐसे व्यक्तित्व, कृतित्व व नेतृत्व का नाम है जो मानवीय मूल्यों की पहचान कराता है।

अंततः उनकी अविस्मरणीय कुछ पंक्तियों को यहां उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा–

रात देखा स्वप्न मैंने/कि मर गया हूं/ जागने पर सोचता हूं/ क्या कोई मृत्यु अपनी देख पाता है/ क्यों नहीं!

–दानबहादुर सिंह, रीवा (म.प्र.)

प्रभाकर पर केंद्रित

● विष्णु प्रभाकर की चर्चित कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' और *आवारा मसीहा* के कुछ अंश दिए होते तो अंक और प्रभावशाली बनता।

–विवेक सत्यांशु, शिवनगर, इलाहाबाद

श्रद्धांजलि

● विष्णु प्रभाकर को मैं एकांकीकार या नाटककार के रूप में ही जानता था। विष्णु प्रभाकर के जीवन तथा रचना-संसार से पाठकों को अवगत कराकर आपने उनको सच्ची श्रद्धांजलि दी है। साहित्य की इतनी विधाओं में एक साथ सर्जन करने वाले मनीषी को मेरा नमन।

यह अंक शोधार्थियों के लिए विशेष लाभकारी तथा संग्रहणीय बन गया है। क्या अच्छा होता जो आप उनकी कुछ कहानियां भी इस अंक में शामिल करतीं।

–अजय कुमार, आनंद नगर, आरा, भोजपुर (बिहार)

प्रेमचंद ने कई पीढ़ियों के बचपन को संवारा

प्रकाश मनु

प्रेमचंद (1880-1936) हिंदी के महान कथाकार और उपन्यास-सम्राट हैं। लेकिन साथ ही वे हिंदी बाल साहित्य की नींव रखने वाले दिग्गज लेखकों और आधार-स्तंभों में से भी हैं। हिंदी बाल उपन्यास का यह बड़ा सौभाग्य है कि उसकी नींव रखने का श्रेय उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद को जाता है। प्रेमचंद की रचना *कुत्ते की कहानी* (1936) हिंदी का पहला बाल उपन्यास है। *कुत्ते की कहानी* में 'कहानी' शब्द जुड़ा देखकर बहुतों को भ्रम हो सकता है कि शायद यह प्रेमचंद द्वारा बच्चों के लिए लिखी गई कहानी है। पर दस खंडों में बंटी प्रेमचंद की यह लंबी और सुव्यवस्थित कथाकृति निश्चित रूप से बाल उपन्यास ही है, कहानी नहीं। अपनी संरचना से लेकर भाव-विस्तार, शैली और कथ्य तक। एक अच्छे बाल उपन्यास के रूप में यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुई थी। इसकी भूमिका में प्रेमचंद ने बाल पाठकों को संबोधित करते हुए लिखा है, 'उम्मीद है, तुम्हें यह *कुत्ते की कहानी* अच्छी लगेगी, क्योंकि इस कुत्ते के भीतर भी तुम्हारे जैसा ही सरल, निश्छल बच्चा बैठा हुआ है।'

प्रेमचंद जिस तरह बड़ों के साहित्य के महान और कालजयी लेखक हैं, ऐसे ही वे बच्चों के भी सर्वाधिक प्रिय और पसंदीदा लेखक हैं। उन्होंने बच्चों के लिए कहानियां लिखीं, उपन्यास और जीवन-चरित लिखे, और पूरी तरह बाल कल्पनाओं से सराबोर होकर तथा बच्चों के मन और सपनों में रमकर लिखा।

31 जुलाई, 1880 को उत्तर प्रदेश के लमही गांव (वाराणसी) में जनमे प्रेमचंद बाल साहित्य के महत्व को अच्छी तरह समझते थे। इसे साहित्यकार का एक बड़ा दायित्व मानकर ही वे इस ओर आए। ग़ौर करने की बात है कि 1936 में प्रेमचंद अपनी कीर्ति और रचनात्मकता के शीर्ष पर थे। *गोदान* की रचना वे कर चुके थे। तब उन्हें बच्चों के लिए यह बाल उपन्यास *कुत्ते की कहानी* लिखने की जरूरत महसूस हुई। शायद इसलिए कि बाल पाठकों को इस साहसी और भले कुत्ते की कहानी के ज़रिए एक नया संस्कार दिया जा सके तथा साहस, स्वाभिमान और उदारता का पाठ पढ़ाया जाए। इससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रेमचंद का 1936 में आकस्मिक निधन न हुआ होता, तो शायद ऐसे और एक-से-एक बढ़िया कलात्मक बाल उपन्यासों से वे बाल साहित्य की झोली भरते।

अंग्रेज़ी में जैसे 'ब्लैक ब्यूटी' एक घोड़े की कहानी है, प्रेमचंद की *कुत्ते की कहानी* भी लगभग उसी अंदाज और ढब की औपन्यासिक रचना है जिसे उन्होंने ख़ासी मौलिक रंगत दी है। कुत्ते का एकदम देसी नाम कल्लू है। उसका एक भाई है, मां है, पर उनसे कल्लू का स्वभाव अलग है। जब उसका भाई ही उससे जबरन रोटी छीन रहा होता है तो कल्लू दुखी होकर सोचता है, 'हम कुत्तों में यही तो बुराई है। एक कुत्ता दूसरे का सुख नहीं देख सकता।' कितना जोरदार व्यंग्य है! उपन्यास के आख़िर में बहुचर्चित हीरो बन चुके कल्लू के कई बड़े और हैरतअंगेज़ कारनामों के बाद, अब उसके पास सारे सुख हैं। अख़बारों में उसकी वीरता की कहानी छप चुकी है। लोग लाखों रुपए देकर उसे ख़रीदना चाहते हैं। नौकर-चाकर हमेशा सेवा करने और टहलाने के लिए मौजूद हैं। साहबों की तरह टेबल पर खाना मिलता है। पर कल्लू सुखी नहीं है। उसका मन अब भी पहले की तरह गलियों में घूमने और धमाचौकड़ी मचाने को करता है। वह महसूस करता है कि अब उसके पास सारे सुख हैं, लेकिन गले में गुलामी का पट्टा बंधा हुआ है। और गुलामी से बड़ा कोई दुरूख़ नहीं है, "तब से कई नुमाइशों में जा चुका हूं, कई राजाओं का मेहमान रह चुका हूं। ...मगर अब यह मान-सम्मान बहुत अखरने लगा है। यह बड़प्पन मेरे लिए कैद से कम नहीं है। उस आज़ादी के लिए जी तड़पता रहता है जब मैं चारों तरफ मस्त घूमा करता था।" उपन्यास के अंत में यह संकेत करके प्रेमचंद आज़ादी की लड़ाई की पूरी मर्म-भावना और तड़प को प्रकट कर जाते हैं। प्रेमचंद के इस अनोखे बाल उपन्यास को पिछले दिनों संदर्भ प्रकाशन (दिल्ली) ने फिर से नए कलेवर में छापा है। वहां यह जिक्र भी है कि *कुत्ते की कहानी* हिंदी का पहला बाल उपन्यास है।

प्रेमचंद का *दुर्गादास* हिंदी का अपने ढंग का अनूठा ऐतिहासिक बाल उपन्यास है। बेशक प्रेमचंद ने *दुर्गादास* को जीवनी के रूप में लिखा है पर निस्संदेह उसकी पूरी बनावट और कथा-विन्यास को देखकर लगता है कि यह हिंदी का पहला सफल और अपूर्व ऐतिहासिक बाल उपन्यास है। इस उपन्यास की नाटकीय ढंग की शुरुआत और अंत, दुर्गादास के दुर्जेय चरित्र और वीरता की एक-से-एक साहसिक, उदात्त छवियां, मुग़ल-सम्राट औरंगज़ेब को हंसते-हंसते खिलाने और खिजाने की उसकी ज़िद और अंत में इस महा शूरवीर की उदात्त किस्म की उपरामता जिस नाटकीय भाषा और लाघव के साथ सामने आई, उसमें प्रेमचंद की उपन्यास-कला की श्रेष्ठता और ऊंचाई देखी जा सकती है। बेशक यह हिंदी का पहला ऐतिहासिक बाल उपन्यास है। यही बात बचपन या किशोरावस्था में पढ़ी प्रेमचंद की कहानियों को लेकर कही जा सकती है जो जीवन-भर हमारा पीछा करती हैं और रूप बदल-बदलकर हमें मोहती और लुभाती हैं। इस लिहाज़ से प्रेमचंद की 'दो बैलों की कथा', 'बड़े भाईसाहब', 'गुल्ली-डंडा', 'ईदगाह', 'रामलीला' समेत ढेरों कहानियों का स्मरण होता है, जिन्होंने हमारे भीतर संवेदना को रचा है और हमें तमाम तरह के 'सूखे' से बचाकर आर्द्र बनाए रखा है। प्रेमचंद की इन कहानियों की ख़ासियत यह है कि मूलतः ये कहानियां बच्चों के लिए नहीं लिखी गई थीं, पर इनमें जीवन की सच्चाइयां इतने सहज और जीवंत रूप में आती हैं कि बच्चे हों या बड़े, सभी ने उन्हें पढ़ा और सराहा। प्रेमचंद की ये कहानियां हमारे दिल में उतरती हैं और हमें अपने साथ बहा ले जाती हैं। इसीलिए 'ईदगाह' का हामिद जब और बच्चों की तरह अपने खाने-पीने और शौक पूरे करने की बजाय अपनी दादी की चिंता करता है और लौटते समय अपनी दादी के लिए चिमटा लेकर आता है तो उस पर दादी ही नहीं, कहानी पढ़ने वाला हर पाठक रीझता है। ख़ास

बात यह है कि इस कहानी में बच्चों के लिए कोई सीधा उपदेश नहीं है, पर यह कहानी उन्हें भीतर से बदल देती है और वे अपने-पराए सभी के दुख-दर्द को अधिक संवेदनशील होकर देखते और समझते हैं।

फिर हामिद का एक असाधारण गुण है जो बाल पाठकों के हृदय पर गहरा असर छोड़ता है। वह यह कि दूसरे बच्चे जब सुंदर, रंग-बिरंगे खिलौने ख़रीदते हैं तो वह महंगे खिलौने ख़रीदने की बजाय चिमटा ख़रीदता है पर इस बात को लेकर उसके मन में कोई हीनता नहीं है। हामिद के साथी जब अपने खिलौनों की तारीफ़ कर रहे होते हैं तो वह अपने चिमटे की ख़ासियतें इतने असरदार ढंग से बताता है कि दूसरे बच्चे भी उसका चिमटा थोड़ी देर के लिए हाथ में लेने के लिए ललक उठते हैं। ऐसा हामिद भला ज़िंदगी में कभी किसी से मात कैसे खा सकता है?



इसी तरह 'दो बैलों की कथा' प्रेमचंद की बेजोड़ और अमर कथा कृति है। इसमें बैलों का आपसी प्यार और उनके भीतरी जज़्बात, ख़ासकर मालिक से उनके प्यार का क्या ही कमाल का चित्रण है। यही कारण है कि जब उन्हें बेचा जाता है, तो वे एक दाना तक नहीं खाते और लौटकर अपने पुराने मालिक के पास पहुंच जाते हैं तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं होता। ऐसे ही 'बड़े भाईसाहब' बड़ी कमाल की कहानी है। बड़े भाईसाहब अपने छोटे भाई पर ऐसी सीख भरी हिदायतें लाद देते हैं कि बेचारे का दम घुटने लगता है और वह कुछ-कुछ आतंकित हो उठता है। पर फिर नतीजा आता है तो छोटा भाई पास होता है और हिदायतें लादने वाले बड़े भाईसाहब खुद फ़ेल हो जाते हैं। उस समय बड़े भाईसाहब की बेचारगी देखने लायक है। पर कहानी के अंत में प्रेमचंद बड़े भाईसाहब के मुंह से जो शब्द कहलवाते हैं, उनमें जैसे उनका हृदय बोलता है और वे मन में गहरे उतर जाते हैं।

प्रेमचंद की 'चोरी', 'कजाकी', 'गुल्ली-डंडा', 'नादान दोस्त', 'पूस की रात', 'नमक का दारोग़ा' और 'पंच-परमेश्वर' भी ऐसी कहानियां हैं जिन्हें बच्चे कई पीढ़ियों से पढ़ते आ रहे हैं। बच्चों के पाठ्यक्रमों में भी ये शामिल रही हैं। लिहाज़ा बच्चों और बाल साहित्य के साथ इनका बड़ा करीबी रिश्ता है। इनमें 'चोरी', 'कजाकी' और 'गुल्ली-डंडा' का तो सीधा संबंध बच्चे या बचपन के साथ है और इन्हें एक मानी में प्रेमचंद की आत्मकथात्मक कहानियां भी कहा जा सकता है। ख़ासकर 'चोरी' में बचपन में की गई चोरी और उसके खुलने के बाद मन में पिटाई के डर की बड़ी कमाल की अभिव्यक्ति है। 'कजाकी' कहानी का कथानायक कजाकी एक हरकारा है जो बच्चे को अपने कंधे पर बैठाकर बड़ी तेज़ी से दौड़ता हुआ उसे अनोखी सैर का आनंद देता है। 'नादान दोस्त' में बच्चों को इस बात की फिक्र है कि चिड़िया के बच्चों को कोई नुकसान न हो। इस बीच वे खुद कुछ ऐसा कर देते हैं कि चिड़िया अपने अंडों को तोड़ देती है। बाद में बच्चों को अपनी भूल पता चली तो वे बुरी तरह पछताते हैं। इसी तरह 'पंच-परमेश्वर', 'पूस की रात' और 'नमक का दारोग़ा' प्रेमचंद की बड़ी मशहूर कहानियां हैं जिनमें जीवन-अनुभव के गहरे पाठ हैं। वे कहानियां ताज़गी से भरी और नई लगती हैं तथा हम उनसे बहुत कुछ सीखते हैं।

प्रेमचंद ने ये कहानियां ख़ास तौर से बाल पाठकों को ध्यान में रखकर नहीं लिखी थीं। बाद में इनकी चर्चा बाल कहानियों के रूप में होने लगी, यह दीगर बात है। पर संभवतः कुछ संपादित होकर ही वे अच्छी बाल कहानियों के रूप में असर डाल सकती हैं। अपने मूल रूप में वे बेशक बच्चों पर कुछ भारी पड़ती हैं।

प्रेमचंद ने बच्चों के लिए भी ख़ास तौर से कहानियां लिखी थीं, जिनकी ओर दुर्भाग्य से अधिक ध्यान नहीं दिया गया। *जंगल की कहानियां* (1936) शीर्षक से प्रेमचंद ने चीता, बाघ, भालू, बनमानुष आदि वन्य पशुओं और जंगल के जीवन को लेकर, बच्चों के लिए बड़ी संवेदना से छलछलाती सुंदर और मार्मिक कहानियां लिखी थीं। विडंबना यह है कि बाल साहित्य के अंतर्गत अकसर प्रेमचंद की उन कहानियों की चर्चा होती है जो उन्होंने बच्चों के लिए नहीं, बड़ों के लिए लिखी थीं। और ख़ासकर बच्चों के लिए लिखी गईं उनकी एक से एक रोचक और खूबसूरत कहानियों को एकदम भुला ही दिया गया जबकि सच तो यह है कि वे इतनी भावपूर्ण कहानियां हैं कि सीधे बाल पाठकों के दिल में उतरकर उन्हें अधिक सरल, मानवीय और करुणायुक्त बनने की सीख देती हैं। *जंगल की कहानियां* में कुल मिलाकर 12 कहानियां हैं जो प्रेमचंद ने अपने जीवन के आख़िरी दौर में लिखी थीं, जब वे एक तरह से अपनी कीर्ति के शिखर पर थे। उस समय उन्हें बच्चों के लिए लिखना ज़रूरी लगा, यह बात खुद में बाल साहित्य के महत्व को उजागर कर देती है।

प्रेमचंद की लिखी *जंगल की कहानियां* किस कदर रोमांचक हैं, यह इस पुस्तक की पहली ही कहानी 'शेर और लड़का' पढ़कर जाना जा सकता है। हुआ यह है कि एक लड़का बाघ के डर से पेड़ पर चढ़कर बैठ गया। बाघ उसे खाना चाहता था, पर बाघ पेड़ पर तो चढ़ नहीं सकता था। इस कहानी की ख़ास बात यह है कि प्रेमचंद ने बच्चों को बचाने के लिए न किसी परी को तकलीफ़ दी और न किसी चमत्कार की ओट ली। बस, अपनी थोड़ी समझदारी और धीरज से बच्चा खुद को खूंखार बाघ से बचा लेता है।

'गुब्बारे पर चीता' शायद जंगल की कहानियों में सबसे दिलचस्प है। इसमें एक बच्चा चिड़ियाघर देखने आया है। अभी वह चिड़ियाघर के जानवरों को देख ही रहा है कि अचानक पता चला, चीता पिंजरे से छूट निकला है। डरकर लड़का भागा और फुर्ती से एक गैस के गुब्बारे पर चढ़ गया, जो उसे लेकर ऊपर उड़ने लगा। तभी चीता भी उछला और उस गुब्बारे पर सवार हो गया, पर गुब्बारे को लगातार ऊपर उठता देखकर उस पर बैठा चीता कुछ इस कदर घबराया कि उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। बच्चे को खाना तो दूर, खुद वह डर के मारे नीचे कूदता है और अपने प्राण गंवा देता है। वैसे डरा हुआ तो वह बच्चा भी है, पर वह ज्यादा घबराता नहीं है बल्कि चतुराई से उस गुब्बारे की गैस को निकाल देता है जिससे वह गुब्बारा नीचे आ जाता

है। इस रोमांचक कथा में भी बच्चा आख़िर अपनी समझदारी से ही खुद को बचा लेता है। कहानी में फंतासी का कौतुक और आनंद तो है, पर कोई निरर्थक चमत्कार नहीं है। प्रेमचंद की यह कहानी इतनी रोमांचक है कि हर बच्चा दम साधकर इसे पढ़ेगा।

मिट्ठू और *पागल हाथी भी जंगल की कहानियां* पुस्तक में शामिल वे कहानियां हैं जिन्हें प्रेमचंद ने ख़ास तौर से बाल पाठकों के लिए लिखा था। इनमें '*मिट्ठू*' कहानी का मिट्ठू एक बंदर का बच्चा है जो सर्कस में कमाल दिखाया करता है। पर एक बच्चे को उससे बड़ा प्यार हो जाता है। वह सर्कस के मैनेजर से उसे बेचने के लिए कहता है, पर वह इस बात के लिए तैयार नहीं होता। अंत में कुछ ऐसा घटता है कि मैनेजर लड़के को वह बंदर का बच्चा उपहार के रूप में सौंप देता है। 'पागल हाथी' भी बहुत मर्मस्पर्शी कहानी है जिसमें पागल हाथी ने गुस्से में आकर महावत को मार दिया। कोई उसे संभाल नहीं पाता और आखिर उसे मारने की तैयारियां कर ली गई हैं। पर तभी महावत का बेटा आगे बढ़ता है तो पागल हाथी का सारा गुस्सा गायब हो जाता है। वह बड़े प्यार से उस छोटे-से बच्चे को अपनी पीठ पर बैठा लेता है और उसका कहना झट मान जाता है।

प्रेमचंद की बड़ों के लिए लिखी गई किताबों की तो ख़ासी चर्चा होती है, पर उन्होंने बच्चों के लिए सुंदर जीवनियां लिखीं, इसका उल्लेख तक करने की जरूरत किसी ने नहीं समझी। प्रेमचंद की लिखी गई जीवनियों में 'शेख़ सादी' और 'दुर्गादास' तो इतनी विस्तृत हैं कि वे अपने आपमें स्वतंत्र पुस्तकें हैं। प्रेमचंद शेख़ सादी की जीवन-कथा और संघर्षों के बारे में काफी विस्तार से लिखने के साथ-साथ उनकी अपूर्व समझदारी और उस बुद्धिमत्ता की भी चर्चा करते हैं, जिससे वे विपरीत परिस्थितियों में भी धीरज नहीं खोते थे और कोई न कोई राह निकाल लेते थे। शायद यही वजह है कि शेख़ सादी का लेखन हमारे दिलों को छूता है और आज भी लाखों लोग दीवानगी से उन्हें पढ़ते और याद करते हैं। प्रेमचंद ने शेख़ सादी की मशहूर पुस्तक *गुलिस्तां* का भी खूबसूरत अनुवाद करके इस जीवनी में शामिल किया है, ताकि बच्चे और किशोर पाठक पूरी तरह उनसे परच सकें और शेख़ सादी एक अच्छे और बुद्धिमान मित्र की तरह हमेशा उनके साथ रहें।

पुस्तक रूप में प्रकाशित प्रेमचंद की एक और जीवनी है *दुर्गादास*। इसमें इतिहास के अमर तेजस्वी नायक दुर्गादास की अद्भुत वीरता की कई ऐसी झलकियां हैं कि पढ़ते-पढ़ते हम रोमांचित हो उठते हैं। यों दुर्गादास का पूरा जीवन खुद में करुण विडंबना है। वीर राजपूत जसवंत सिंह के पुत्र अजीत सिंह को औरंगज़ेब के हाथों से बचाने के लिए दुर्गादास ने अनगिनत लड़ाइयां लड़ीं और घाव खाए। वही अजीत सिंह दुर्गादास के शौर्य और अनवरत कोशिशों के बाद गद्दी पर बैठा, तो कुछ चापलूस सरदारों के बहकावे में आकर उलटे उसने दुर्गादास को ही धोखे से मरवाने की कोशिश की। यहां भी दुर्गादास अपने विकट साहस और चतुराई से बच निकला। पर इस वीर नायक का करुण अंत मन में अजब-सी करुणा भर देता है।

गद्य में श्रीरामचंद्र की पहली जीवनी प्रेमचंद ने ही लिखी है। रामचंद्र के गौरवशाली जीवन-चरित पर लिखी गई यह विस्तृत जीवनी एक अलग पुस्तक के रूप में है और राम के जन्म से लेकर उत्तरकांड तक का पूरा वर्णन इसमें मिलता है। यानी सीता-निर्वासन और लव-कुश वाले प्रसंग भी इसमें शामिल हैं। राम की यह जीवनी प्रेमचंद ने पहले उर्दू में लिखी, फिर हिंदी में इसका रूपांतरण या लिप्यंतरण हुआ। उर्दू का असर उसके संवादों पर काफी अधिक है जो बेहद चुटीले और नाटकीय हैं। यहां तक कि रोज़मर्रा के बोलचाल के ऐसे हलके शब्द भी उसमें आ गए हैं जिन्हें रामकथा में पढ़ना थोड़ा अटपटा लगता है। पर अच्छी बात तो यह है कि राम जैसे चरितनायक पर प्रेमचंद ने बड़े मन से यह जीवनी लिखी और इस उद्देश्य के साथ लिखी कि इसे पढ़कर हम सीखें कि राम क्यों बड़े थे या कि उनमें क्या उदात्त गुण और महानताएं थीं।

बच्चों के लिए लिखी गई प्रेमचंद की जीवनियों की एक और सुंदर पुस्तक है *क़लम, तलवार और त्याग*। यह पुस्तक दो भागों में है और इसमें देश-विदेश के अनेक लेखकों, कलाकारों, पत्रकारों, स्वाधीनता सेनानियों, इतिहास-पुरुषों और जननायकों की जीवनियां शामिल की गई हैं। पुस्तक में राणा प्रताप, रणजीत सिंह, राणा जंगबहादुर, अकबर महान, स्वामी विवेकानंद, राजा मानसिंह, राजा टोडरमल, गोपाल कृष्ण गोखले, गैरीबाल्डी, मौलाना वहीदुद्दीन सलीम, डा. सर रामकृष्ण भंडारकर, बदरुद्दीन तैयबजी, सर सैयद अहमद खां, मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' तथा रेनाल्ड्स के जीवन-चरित बहुत सजीव और भावपूर्ण भाषा में पढ़ने को मिलते हैं।

जो भी चरित बच्चों में नया उत्साह फूंक सकें, उन्हें त्याग, सेवा और बड़प्पन सिखा सकें, वे आधुनिक काल के हों या प्राचीन काल के, अपने देश के हों या विदेश के, प्रेमचंद ने बहुत गहराई और गहरे आत्मीय जुड़ाव के साथ उन पर लिखा है। सबको सहेजने की उनकी प्रवृत्ति के कारण यहां किसी तरह की संकीर्णता या तंगदिली नहीं है। एक ओर राणा प्रताप को वे महान वीर, साहसी और स्वाभिमानी नायक के रूप में प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरी ओर अकबर महान के अच्छे गुणों, धार्मिक सहिष्णुता, उदारता और दूर-दृष्टि की भी खुलकर तारीफ़ करते हैं। अपने इन्हीं गुणों और बड़प्पन के कारण अकबर देखते ही देखते पूरे भारत का महान सम्राट बना। उसका साम्राज्य दूर-दूर तक फैल गया और उसने हिंदू-मुस्लिम एकता की जो नींव डाली, उसे आज भी सभी आदर से याद करते हैं।

ये जीवनियां अपने चरितनायकों के नेक गुणों का जी भरकर बख़ान करती हैं तो भी उनकी सीमाओं या कमियों को दिखाने से गुरेज नहीं करतीं। बल्कि कहीं-कहीं तो प्रेमचंद की आलोचना थोड़ी तीखी भी हो जाती है। उन्होंने इससे अपने चरितनायक की जो प्रेरक तस्वीर बनाई, उस पर ज्यादा असर नहीं पड़ता। भाषा कहीं-कहीं बच्चों के लिए लिखी गई जीवनियों की भाषा से अलग और थोड़ी बोझिल हो जाती है। जो भी हो, प्रेमचंद द्वारा लिखी गई इन बाल तथा किशोरोपयोगी जीवनियों का आज़ादी मिलने से पहले के बाल साहित्य में बड़ा महत्व है।

प्रेमचंद जिस तरह बड़ों के साहित्य के महान और कालजयी लेखक हैं, ऐसे ही वे बच्चों के भी सर्वाधिक प्रिय और पसंदीदा लेखक हैं। उन्होंने बच्चों के लिए कहानियां लिखीं, उपन्यास और जीवन-चरित लिखे, और पूरी तरह बाल कल्पनाओं से सराबोर होकर तथा बच्चों के मन और सपनों में रमकर लिखा। और यह बात भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि अपने जीवन के आख़िरी चरण में वे बाल साहित्य का महत्व समझते हुए *कुत्ते की कहानी* सरीखा कालजयी बाल उपन्यास लिख रहे थे, जो बाल साहित्य की एक बड़ी थाती है। काश, प्रेमचंद के बाल साहित्य की ओर हमारे बड़े आलोचकों का ध्यान जाए, तो उनके व्यक्तित्व का नया और बड़ा ही ममतालु रूप लोगों के सामने आ सकता है। खुशी की बात है कि प्रेमचंद का संपूर्ण बाल साहित्य तथा बच्चों के लिए लिखी रचनाएं अब फिर से नए और आकर्षक रूप में सामने आ रही हैं। इससे बेशक प्रेमचंद और बाल साहित्य दोनों को ही कहीं अधिक मुकम्मल रूप में समझने में मदद मिलेगी। ❑

संपर्क : 545, सेक्टर-29, फ़रीदाबाद (हरियाणा)-121008

बाल साहित्य के अप्रतिम-सर्जक

अमृतलाल नागर

बंधु कुशावर्ती

अमृतलाल नागर हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और कथाकार हैं। प्रेमचंद की परंपरा के महत्वपूर्ण संवाहकों में वह अग्रगण्य हैं। परंतु नागरजी ने उपन्यासों एवं कहानियों के साथ ही हास्य-व्यंग्य, रेडियो-नाट्य, संस्मरण आदि विभिन्न विधाओं के साथ ही कविताएं भी लिखी हैं लेकिन, उनका यह पक्ष इतना कम उजागर हुआ है कि उनके कवि-व्यक्तित्व तथा कविता से उनके लगाव की चर्चा करने पर लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं! बाल साहित्यकार की भूमिका में उतरकर बच्चों के लिए लिखते रहे अमृतलाल नागर का अवदान भी प्रायः विस्मृतप्राय है।

वास्तविकता यह है कि अमृतलाल नागर ने बच्चों के लिए 50 वर्षों तक लिखा है। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवन-चरित ही नहीं, बच्चों के लिए अद्वितीय *बाल महाभारत* भी लिखा है। नागरजी ने बच्चों के लिए जितना लिखा है, उसका 90 गुना उन्होंने बच्चों को सुनाया, उनसे साझा किया है। अपने घर-परिवार से लेकर मुहल्ले तक के बच्चे उन्हें घेरकर कहानी सुनाने की मांग करते तो बच्चों के साथ बचपनमय होकर वह जीवन-जगत की यथार्थवादी कहानियों और कल्पनाशीलता की अपरिमित उड़ानों से बच्चों को इतना मुग्ध कर लेते कि न पूछिए!

अमृतलाल नागर को बाल साहित्य लेखन के लिए जाना और सराहा गया या नहीं? इस चिंता से बेफिक्र उन्हें मलाल अपने से रहा और वह यह कि–'मैंने बच्चों को जितना मौखिक सुनाया, उसका दशमांश भी लिपिबद्ध नहीं कर सका!' नागरजी के साहित्य तथा उनकी विरासत को थाती की तरह सहेजने वाले उनके कनिष्ट पुत्र शरद नागर का इस क्रम में मानना है कि बाबूजी ने बच्चों के साथ हिल-मिलकर मौखिक रूप से जितना रचा और सुनाया है, वह 5-6 वृहत खंडों से कम न होता, यदि लिपिबद्ध हो पाता! यहां नागरजी और शरद नागर की बातों पर लोकसाहित्य के संदर्भ में ग़ौर करके देखें, जिसमें परंपरागत रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक साहित्य के रूप में अकूत सर्जन-प्रवहमान रही है तो आश्चर्यजनक रूप से अज्ञात नहीं रह जाता कि नागरजी का कितना मौखिक बाल साहित्य असंकलित ही रह गया! अस्तु, यहां अमृतलाल नागर और उनके बाल साहित्य के ज्ञात-पक्ष की संक्षिप्त चर्चा ही संगत होगी।

> *नागरजी ने बच्चों के लिए जो कुछ भी लिखा वह बच्चों द्वारा खूब पढ़ा और सराहा गया। बच्चों के प्रति लगाव और उनके लेखन के प्रति नागरजी की ललक को इसी से समझा जा सकता है कि पीढ़ियां उपन्यास समाप्त कर लेने के बाद और अपने निधन से पूर्व उन्होंने जो कहानियां रचीं, वह सबसे छोटी आयु के बच्चों के लिए थीं। इनका प्रकाशन नागरजी के देहांत के बाद हुआ। नागरजी के बालकथा-लेखन में वैविध्य एवं अनेक आयाम तो हैं ही, उनका बालकथा-संसार सभी आयु-वर्ग के बच्चों के अनुरूप रोचक, मनमोहक और ज्ञानवर्द्धक भी है।*

अमृतलाल नागर ने बच्चों के लिए पद्य और गद्य में जो साहित्य रचा, वह काव्य, कथा, जीवन-चरित, नाटक, व्याख्यान आदि के रूप में उपलब्ध है। इसमें 'काव्य' के अंतर्गत–लोरी *निंदिया आ जा* एवं पद्यकथाएं, 'कथा' के अंतर्गत 3-4 वर्ष से लेकर 14-15 वर्ष तक के बच्चों के लिए कहानियां और उपन्यास तथा 98 जीवन-चरित के साथ 10 हजार वर्षों पूर्व तक की विश्व-सभ्यता और संस्कृति का इतिहास! 'नाट्य' में बच्चों के लिए रेडियो नाटक एवं बालनाट्य-लेखन पर एक व्याख्यान। बच्चों के लिए *महाभारत* को नागरजी ने *बाल महाभारत* के जिस स्वरूप में लिखा है, हिंदी और हिंदीतर भाषाओं में किसी अन्य ने उस तरह से शायद ही लिखा हो।

नागरजी ने बालजीवन की बहुत सारी छवियां अपने संस्मरणों में तथा अन्यत्र भी अंकित की हैं। 14-15 वर्ष की उम्र तक उन्हें नौकरी के साथ ही स्कूल जाना पड़ता था। परंतु घर में *सरस्वती* से लेकर अन्यान्य पत्र-पत्रिकाएं व पुस्तकें पढ़ने और किस्से-कहानियां सुनने के उन्हें इतने अवसर मिले तथा अपने पितामह के नाते साहित्य के पुरोधाओं–पं. माधव शुक्ल, आचार्य श्यामसुंदर दास आदि का इतना सान्निध्य मिला कि यह बचपन ही उनके लेखकीय-जीवन की आधारभूमि बन गया। अपने लेखकीय-जीवन की आधारभूमि–इस 'प्रतिबंधित बचपन' को नागरजी ने 'सुख भरे और मन को एक तरह की ताज़गी दे जाने वाला' माना है। यह उनकी सकारात्मक दृष्टि थी। तभी तो 12 वर्ष की उम्र में जब नागरजी के शहर लखनऊ में साइमन-कमीशन (1928) आया तो वह माता-पिता के मना करने के बावजूद विरोध-जुलूस में शामिल होने पहुंच गए। पुलिस का लाठीचार्ज आंखों देखा और विरोध के लिए डटी हुई जनता का आर्तनाद भी सुना। जैसे-तैसे इस सबके बीच से निकलकर घर आए।

पितामह की प्रेरणा व प्रोत्साहन से अब तक कविताएं व श्लोक याद करते और आगन्तुकों को सुनाते रहने वाले बालक अमृत का अनाप-शनाप (निरर्थक-सार्थक) पढ़ते रहने वाला कल्पना-पंछीमन, और रचनात्मक-उर्वरता से ओत-प्रोत मानस, जो अवसर की तलाश में गूंगे जैसी चुप्पी साधे रहा, सहसा वह खुद-ब-खुद बंद कली की तरह खिल उठा! परिणामतः बालक अमृत

की पहली रचना रची गई। यह साइमन-कमीशन का विरोध करती जनता के ऊपर ब्रिटिश पुलिस के लाठी-चार्ज आदि के फलस्वरूप बालमन पर पड़ी अमिट छाप थी, जो लखनऊ के चौक से ही छपते साप्ताहिक पत्र *आनन्द* में छप गई। यह पूरी याद भी नहीं रही और न अखबार की प्रति ही सुरक्षित रखी जा सकी। हां, साइमन-विरोध करते लोगों पर पुलिस अत्याचार की स्मृतियों की तरह निम्नांकित-अंश अमृतलाल नागर के अंतःमानस में बसे रह गए–

कब लौं कहौ लाठी खाया करें,
कब लौं कहौ जेल सहा करिए।
.... अमरित पै ईश दया करिए।।

नागरजी के अनुसार यह उनके जीवन की पहली तुकबंदी थी। उनके साहित्यिक जीवन की प्रायः शुरुआत से मैत्रीभाव के साथ उन पर दृष्टि रखते रहने वाले रामविलास शर्मा (बाद में प्रसिद्ध हिंदी-समालोचक के रूप में समादृत) ने यहीं से नागरजी के साहित्यिक जीवन की शुरुआत मानी है।



कविता, वह भी ब्रज-भाषा के छंद में, करने वाले इन अमृतलाल नागर ने फिर तो कुछ तुकबंदियां भी कीं। वह नगर और मुहल्ले के कवि सम्मेलन में शामिल हुए परंतु हाईस्कूल तक पहुंचते-पहुंचते उन्होंने दृढ़व्रती की तरह तय कर लिया कि मुझे जीवन में बनना है तो केवल लेखक और लेखक ही बस! कवितामुखी-मन यहीं से कहानियों की तरफ मुड़ गया। मौलिक-अनूदित कथासाहित्य पढ़ने और कुछ न कुछ लिखने का भी सिलसिला शुरू हो गया, यहां तक कि बांग्ला-लेखक शरत्चंद्र से इतना प्रभावित हुए कि प्रायः 15-16 वर्ष की उम्र के दौरान तीन बार उनसे मिलने कलकत्ता से लेकर उनके ग्रामीण-निवास तक हो आए। उनके स्नेह-भाजन भी बने। बनारस में प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद आदि से भी जाकर मिलते रहे। नवोदित लेखक के रूप में सन् 1935 में अपना पहला कहानी संकलन *वाटिका* छपवाया और प्रेमचंद को भेजा। प्रेमचंद ने प्रशंसा करने के साथ ही आकांक्षा व्यक्त की–"मैं तुमसे रियलिस्टिक कहानियां चाहता हूं।" प्रेमचंद की यह आकांक्षा ही वस्तुतः अमृतलाल नागर के कथा-लेखन की दिशावाहक बनी और उन्हें अपने लेखन की राह दिखा गई।

प्रेमचंद से यथार्थवादी कहानियां लिखने की प्रेरणा मिली तो 'यथार्थवाद' और 'प्रगतिशीलता' अमृतलाल नागर की रचनात्मक-गाड़ी के दो पहिए बन गए। परंतु यह कम ही लोग जानते हैं कि गद्य-लेखन की विविध विधाओं में सक्रिय रहे अमृतलाल नागर का कविता से सरोकार पढ़ने तक ही नहीं, रचने के स्तर पर भी बराबर बना रहा। यहां प्रसंगवश बताना अपरिहार्य है कि एक तो हास्य-व्यंग्य का लोकप्रिय साप्ताहिक *चकल्लस* निकालने के दौर (1938-39) में नागरजी ने विभिन्न कवियों की प्रसिद्ध कविताओं पर पैरोडी (हास्यात्मक-प्रतिकाव्य, विडंबन) की रचना खूब की। इसके बाद फिल्म-जगत में गए तो वहां कुछ फिल्मों के लिए गीत लिखे। फिर जब लखनऊ वापस आए, तब अपने कवित्व को बच्चों के लिए लिखी रचनाओं में उतारा। अत्यंत स्पष्ट है कि नागरजी की काव्य-सृजन की अपनी अनुरक्ति कहीं और के बजाय लोरी एवं पद्यात्मक कथाओं से लेकर बच्चों के नाटकों तक में अभिव्यक्त होती रही है। इसी तरह उनके *प्रगतिशील लेखन का यथार्थवाद* भी बच्चों के जीवन और बचपन के अनुरूप अत्यंत मनोवैज्ञानिक-कौशल के साथ बच्चों के लिए लिखी उनकी विभिन्न रचनाओं में आनुपातिक रूप में जगह बनाए रहता रहा। नागरजी के बाल साहित्य संबंधी आगे की जाने वाली चर्चा में इसे 'कवित्व और यथार्थवाद की जुगलबंदी' के रूप में बराबर लक्षित किया जा सकता है। यह भी स्पष्टतः अनुभव किया जा सकता है कि नागरजी का कवि-मन साहित्य में न सही, पर अपने बाल साहित्य के माध्यम से बच्चों तक पहुंचने के अवसर बराबर निकालता हुआ सृजनधर्मी रहा है।

प्रतिबंधित-बचपन और उसके अकेलेपन को 'अपने लेखक का आदि-स्रोत' मानते अमृतलाल नागर द्वारा *चकल्लस* पत्रिका निकालने तक 'बचपन' यानी–बच्चों के लिए लिखने की कोई स्थिति नहीं बन पाई थी। सहसा यह अवसर भी हाथ आ लगा। लखनऊ में दुलारेलाल भार्गव के प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान 'गंगा पुस्तक माला' से प्रकाशित हो रही बच्चों की पत्रिका *बालविनोद* के संपादक ज्योतिलाल भार्गव ने एक दिन कुछ छपे चित्र दिखाते हुए कहा कि इनके आधार पर बच्चों के लिए कहानी लिख दीजिए। नागरजी ने इस क्रम में पांच बाल कहानियां–'नटखट चाची', जमींदार बाबू', 'सुअर की कहानी', 'अमृतलाल नागर बैंक लिमिटेड' तथा 'लिटिल रेड इजिप्शिया' लिखी। जल्दी ही इन कहानियों का एक संकलन *नटखट चाची* नाम से छप गया। ये पांचों कहानियां किशोरों के लिए थीं किंतु, हास्य-व्यंग्य समेत वयस्क-लेखन की छाप लिए हुए। हां, प्रेमचंद द्वारा अमृतलाल नागर से यथाथवादी कहानियों की अपेक्षा-आकांक्षा इन सभी कहानियों में प्रक्षेपित और प्रतिफलित थी, जिसकी सन् 1938-39 में नागरजी के इस बालकथा-लेखन में उपस्थिति निश्चित ही उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण थी।

अमृतलाल नागर ने नवोदित लेखक से आगे अब तक संघर्षशील और प्रतिभाशाली-लेखक के रूप में भी अपनी अच्छी पहचान बना ली थी। वह यह भी निश्चय कर चुके थे कि अब लेखन में ही अपना जीवन है तथा यही मेरी आजीविका का भी आधार रहेगा। सन् 1940 में बंबई जाकर वह हिंदी सिनेमा से जुड़े। लेखकीय-जीवन जीने के निश्चय की दिशा में यह ऐसा कदम था, जिसकी व्यस्तताओं के बीच बच्चों के लिए लिखने की स्थितियां प्रायः दुष्कर थीं। सात वर्षों तक नागरजी बंबई फिल्मोद्योग के लिए सफल लेखक बने रहे किंतु 'प्रतिबद्ध साहित्यिक-लेखन' के लिए वहां समय न मिल पाना उनके लिए ऐसी कचोट थी, जिसके आगे पैसा और प्रसिद्धि देता फिल्म-लेखन उन्हें 'बालू पर किया जाने वाला लेखन' भर लगता था। अतः देश के आज़ाद होने के साथ ही उन्होंने खुद को भी फिल्म-नगरी से आज़ाद कर लिया।

अब पूर्णकालिक लेखक के रूप में लिखने और संघर्ष करने के लिए वह वापस अपने शहर लखनऊ लौट आए। यहां लिखना, नाटक-रंगमंच में सक्रिय रहना और पत्नी प्रतिभा नागर द्वारा मुहल्ले व पड़ोस के साधनहीन बच्चों-बच्चियों की निःशुल्क पढ़ाई-लिखाई के लिए स्थापित 'कस्तूरबा विद्या मंदिर' की गतिविधियों से जुड़कर बच्चों और बचपन से गहरा संवाद और सरोकार कायम रखना अमृतलाल नागर की दिनचर्या में शामिल हो गया। यही समय था जब नागरजी ने–*निंदिया आ जा* जैसी अद्वितीय लोरी लिखी। 'लोरी' या 'पालना-गीत' की रचना परंपरागत रूप से स्त्री-वर्ग के ही हिस्से की सर्जना रही है, जिसमें किंचित कथात्मकता, लयात्मकता और गेयता के साथ ही बहुधा निरर्थक शब्दावली का समावेश भी अनिवार्य तत्व रहा है। प्रायः सभी भाषाओं के लोकसाहित्य में 5-10 से 15-20 पंक्तियों तक की लोरी प्रचलित रही है। हिंदी में शकुंतला सिरोठिया के साथ ही अनेक पुरुष बाल साहित्यकारों (कवियों) ने भी लोरी लिखी है किंतु, ये सभी 12-15 पंक्तियों से आगे बमुश्किल ही बढ़े हैं। इसके विपरीत नागरजी की लोरी–*निंदिया आ जा* पूरे 50 पंक्तियों की कथात्मक, लयात्मक और बच्चों के अनुरूप कल्पनाशीलता से ओत-प्रोत अद्‌भुत रचना है। इसमें बच्चे, परियां, चंद्रलोक, वहां कहानी कहती व चरखा कातती बुढ़िया नानी तो है ही, एकता की भावना के साथ रूसी, अमरीकी, चीनी, जापानी, इंग्लिस्तानी, कोरियाई तथा बरमा, यूनान से लेकर अफ्रीका के अश्वेत बच्चों की मेल-जोल भरी दुनिया भी है, जिसमें बच्चे हिल-मिलकर आनंद-मग्न हैं।

1938-39 से 1950 तक की दुनिया की हलचलों, उथल-पुथल की याद करें तो द्वितीय-विश्वयुद्ध, एटम-बम, भारत-पाक विभाजन की वैमनष्यता आदि ऐसी सच्चाइयां रही हैं, जिन्हें लोग आज भी अपने दिल-दिमाग से निकाल नहीं पाए हैं। ऐसे में नागरजी ने कल्पनाशीलता भरी लोरी की कथात्मकता में जहां पूरा अंतर्राष्ट्रीय-वितान उपस्थित किया, वहीं आनंद-मग्न बच्चों की खुशी के रंग में एटम-बम वाले राक्षस द्वारा सब कुछ भंग कर देने का अत्यधिक अप्रीतिकर किंतु, ऐसा ज्वलंत-यथार्थ समाविष्ट किया कि उनकी यह लोरी न केवल यथार्थवादी, बल्कि अपने समय को व्यक्त करती हुई अत्यंत समकालीन भी बन गई। परंपरागत लोरी के क्रम में यह बिल्कुल अभिनव प्रयोग था।

निंदिया आ जा लोरी, निरर्थक और 'ऊलजलूल' शब्दों से भी नितांत मुक्त है। उसकी दृश्यात्मकता शिशु-वर्ग से लेकर बाल वर्ग तक के लिए मोहक और प्रभावशाली है। परंतु इसे विसंगति ही कहेंगे कि अब से 60 वर्ष पूर्व लोरी के स्तर पर नागरजी के इस अभिनव-प्रयोग और कल्पनाशीलता-मिश्रित समकालीन-यथार्थ के समावेशी-सृजन को अनदेखा ही छोड़ दिया गया!

अमृतलाल नागर की पहचान मुख्यतः उपन्यासकार तथा कहानीकार के रूप में है। हास्य-व्यंग्य लेखन में भी उन्होंने अपनी उल्लेखनीय जगह बनाई है। परंतु *नटखट चाची* (बालकथा-संकलन) और *निंदिया आ जा* (लोरी) जैसी उत्कृष्ट रचनाओं के बावजूद नागरजी को बाल साहित्य-लेखन के स्तर पर हिंदी में परखा एवं पहचाना नहीं गया! शायद इसीलिए कि बाल साहित्य के समीक्षकों-आलोचकों ने उन्हें बच्चों के लिए निरंतर लिखता और छपता हुआ नहीं पाया! इसके विपरीत बड़ा सच यह है कि नागरजी घर से लेकर बाहर तक बच्चों से सघन और सक्रिय रूप से बराबर जुड़े रहे हैं। घर के बच्चों के साथ यह जुड़ना उनके मन-मानस के स्तर पर उतर कर पत्र लिखते हुए उनसे संवाद बनाए रखने का था तो उनके लिए गृह-समाज जैसी घरेलू संस्था बनाकर उन्हें स्वयंमेव दीक्षित-प्रशिक्षित और अनुशासित जीवन जीने की प्रयोगशील-आधारभूमि देने का भी! इस संस्था का बच्चों द्वारा बाकायदा संचालन, इसके स्तर पर बालपुस्तकालय व घर-संसार (हस्तलिखित) पत्र का संपादन आदि कुछ क्रियाकलाप ऐसे रहे हैं जिनके विस्तार में जाना यहां एक विस्तृत अध्याय से गुजरना होगा। हां, कस्तूरबा विद्या मंदिर के साथ उनकी संलग्नता का किंचित उल्लेख पूर्व में हो चुका है, जो घर-परिवार से बाहर के बच्चों के साथ नागरजी के संवाद-संपर्क तथा सक्रियता एवं सरोकारों का प्रत्यक्ष माध्यम था।

1952 से 1955 के बीच लगभग ढाई वर्ष नागरजी आकाशवाणी के लखनऊ केंद्र पर नाटक के प्रस्तुतकर्ता रहे। इस अवधि में उन्होंने आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले बच्चों के कार्यक्रम संयोजित एवं प्रसारित किए। इसके फलस्वरूप घर और मुहल्ले के बच्चों के दायरे से बाहर–आम बच्चों के साथ नागरजी का संवाद-संपर्क और संबंध पूर्वापेक्षा और भी गहराया। नागरजी ने *तीन लफंगे, सात भाई चंपा* तथा *विकलांगों की सेवा* जैसे काव्य-रूपकों की रचना की।

विकलांगों की सच्ची सेवा, भीख मांगते विकलांग बच्चे को आधार बनाकर लिखी गई है। इसमें एक ऐसे विकलांग बच्चे का दर्द उभरा है, जिसे उपेक्षणीय बने रहने के फलस्वरूप भीख मांगने को विवश होना पड़ता है। वह श्रम के महत्त्व को समझता है।

परी देश की सैर बच्चों की कल्पनाशील दुनिया के साथ उनके जीवन के यथार्थ को भी उभारता है। इसमें बच्चों का ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम सद्‌भाव, द्वंद्व सहमेल, मेहनत आदि की विविधवर्णी-छवियां भी रह-रहकर सहज ही प्रदीप्त होती हैं। ये दोनों ध्वनि-नाटक स्वयं में शिक्षा, मनोरंजन और ज्ञानार्जन के भी श्रेष्ठ उदाहरण हैं। बच्चों के बीच नागरजी की पैठ कितनी गहरी थी, वह उनके मानस-मस्तिष्क को कितना अधिक जानते-पहचानते और समझते थे; ये दोनों नाट्य इसके भी सशक्त प्रमाण हैं।

1986 में बालनाट्य अकादेमी, लखनऊ ने जब उनसे बालनाट्य-लेखन की कार्यशाला के निमित्त व्याख्यान देने का आग्रह किया तो चारपाई, पाटी, और पाया के माध्यम से उन्होंने प्रशिक्षुओं को बालनाट्य-लेखन के गुर बहुत ही सहज और अनौपचारिक व्याख्यान देते हुए बात-ही-बात में बता दिए।

नटखट चाची से बालकथा-लेखन शुरू करने वाले अमृतलाल नागर ने सभी वय के बच्चों के लिए लिखा। इसमें जंगल, पशु-पक्षी, राजा-रानी, परी आदि से परिपूरित बच्चों की रुचियों के परंपरागत संसार का सुपरिचित कथा-फलक है तो आसपास का यथार्थ और हमारे समय का सामाजिक-जीवन भी। हमारे समकालीन-जीवन में वैज्ञानिक आविष्कार, दूसरे ग्रहों से संपर्क एवं अन्याय ग्रहों के मानव-तुल्य प्राणियों का पृथ्वी पर आवागमन अब कोई नई और आश्चर्य की बात नहीं रही। नागरजी ने सभी उम्र के बच्चों के लिए रोचक और मनभावन कथाएं लिखीं। छोटे बच्चों के लिए उनके यहां 'बहादुर सोमू', 'रानी मक्खी की चतुराई', 'सात पूछों वाला चीकू' आदि कहानियां हैं तो परंपरागत लोक-कथात्मकता से परिपूर्ण 'साझा', 'चोर बना कोतवाल', 'सतखंडी हवेली का मालिक', 'भागते भूतों की कहानी', 'सोने का चूहा' और 'सच्चे साधू की पहचान' भी हैं। शिल्प और कथ्य में बहुत कुछ ऐसा नया है,

पृष्ठ 35 पर जारी

बाल साहित्य : परंपरा और आधुनिकता बोध

विजयशंकर मिश्र

बाल साहित्य समग्र साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। बालक की मनोदशा, उसकी आज़ादी, उसकी किलकारी, उसके सपने, उसकी हलचलें सब बाल साहित्य की मूल्यवान पूंजी है। मरने के समय तक न भूलने वाली अनमोल भावना का नाम है बचपन। प्रेमचंद ने लिखा है कि 'बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है।' आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री लिखते हैं–'मानव जिसे भूल जाने की बार-बार कोशिश करता है वह उसे दूसरे प्रकार से बार-बार याद ही करता है।'

बाल साहित्य केवल मनोरंजन नहीं है। बच्चों को एक ठोस धरती मिले, उड़ान भरने के लिए स्वच्छंद आकाश मिले, धूप भी छांव-सी लगने लगे, फूलों के साथ कांटे भी सुहाने लगे, ऐसा जो बाल साहित्य करता है वह शाश्वत रचना हो जाती है। मानो, बीमार बालक के जीवन का ललित संवेदनात्मक उपचार है बाल साहित्य। सपनों के समुंदर में ऊब-डूब करते प्राणों की कोमल नौका है। यह तट तक पहुंचाती है, फिर मार्ग प्रशस्त करती है। गुमराह को राह दिखाने की जलती मशाल है जो अपने पूरे अस्तित्व में कलरव को प्रकाशमान बनाती है। इस तरह का साहित्य लिखने के लिए समझदार होने से ज्यादा भावुक होना चाहिए।

बाल साहित्य हमारे यहां मौखिक रूप में सदियों से रहा है। दादी-नानी तरह-तरह की कहानियां सुनाती थीं और हमारे रूठने का कारण एक यह भी होता था। कभी कोई दिन ऐसा न था जब कहानी नानी नहीं कहतीं। बाल साहित्य का जन्म उसी कहानी की कोख से हुआ है। बाद में थोड़ा परिवर्तन हुआ। वैज्ञानिक उपलब्धियां बढ़ीं, सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव आया, बच्चों में जागरूकता बढ़ी।

बाल साहित्य हमारे यहां मौखिक रूप में सदियों से रहा है। दादी-नानी तरह-तरह की कहानियां सुनाती थीं और हमारे रूठने का कारण एक यह भी होता था। कभी कोई दिन ऐसा न था जब कहानी नानी नहीं कहतीं। बाल साहित्य का जन्म उसी कहानी की कोख से हुआ है। बाद में थोड़ा परिवर्तन हुआ। *पंचतंत्र* और *हितोपदेश* की कहानी 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बेताल पच्चीसी' की कहानी भी बच्चों के बीच आने लगी। जातक कथाएं इसी के अंतर्गत हैं।

बाल साहित्य की लिखित परंपरा में अमीर खुसरो से इसकी शुरुआत मानी जा सकती है। खुसरो की कुछ मुकरियां और कुछ पहेलियां बचपन में मेरे दादा जी सुनाते थे और उनका अर्थ भी पूछते। डांटते भी थे। बुझौवल के रूप में ही हमारा मनोरंजन भी होता था और कुछ नई बात सीखने को मिल जाती थी। खुसरो को 'बीज-बाल साहित्य लेखक' कह सकते हैं।

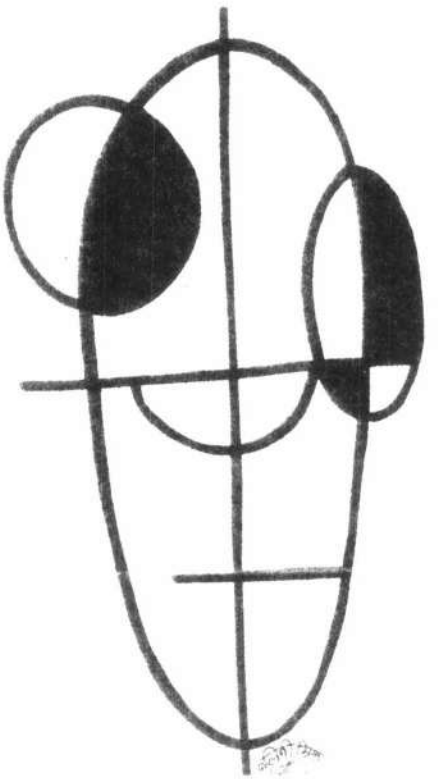
मध्यकाल में सूर और तुलसी के साहित्य में बाल-साहित्य का पूर्वाभास मिलता है। तुलसी कम, सूर थोड़ा आगे आए। उनके बारे में कहा गया है कि 'सूर के भाव-चित्रण में वात्सल्य भाव को श्रेष्ठतम कहा जाता है। बाल भाव और वात्सल्य से सने मातृहृदय के प्रेमभावों के चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते। बालक की विविध चेष्टाओं और विनोदों के क्रीड़ास्थल मातृहृदय की अभिलाषाओं, उत्कंठाओं और भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिंदी के सर्वश्रेष्ट कवि ठहरते हैं। वात्सल्य भाव के पदों की विशेषता यह है कि उनको पढ़कर पाठक जीवन की नीरस और जटिल समस्याओं को भूलकर उसमें मग्न हो जाता है।' बावजूद इसके सूर का बाल-साहित्य हमारे बालकों को कम प्रभावित करता है। केवल विद्वानों के लिए ही इसकी उपयोगिता रह जाती है। भाषा भी बाल-मानस के लिए उपयुक्त नहीं है। फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है क्योंकि वहीं से लेकर आधुनिक काल के रचनाकारों ने सरल भाषा में इस क्षेत्र में रचनाएं कीं और इनसे बहुत लाभ पहुंचा।

तुलसी *रामचरित मानस* में पहला कांड 'बालकांड' लिखते हैं। एक प्रसंग आया है कि एक दिन दशरथ भोजन करने बैठते हैं और साथ में खाने के लिए राम को खुद बुलाते हैं। राम नहीं आते हैं। बच्चों के साथ खेल में लीन हैं। कौशल्या की एक आवाज़ में खेलना छोड़कर दौड़ आ जाते हैं। पंक्तियां हैं–*भोजन करत बोलावत राजा। नहीं आवत तजि बाल समाजा।। कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि-ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई।* हम कह सकते हैं, बालक के लिए कोई राजा नहीं होता, वह स्वयं अपने मन का राजा है। बड़ी-से-बड़ी बादशाहत भी उसकी तोतली बोली और निश्छल किलकारी पर नतमस्तक हो जाती है। वह मां के आंचल में लुक-छिपकर जब दूध पीता है या किसी भय से दुबका होता है, उस समय उसके लिए सारा सुख वहां जमा हो जाता है। अवधी भाषा में रचा गया *रामचरितमानस* यदि खड़ी बोली हिंदी में लिखा गया होता तो बाल कविता के रूप में शायद यह सबसे ऊपर की कविता सिद्ध होती। कवि बाल-मन की परख में चरम पर पहुंचे प्रतीत होते हैं। उस काल में या उसके बाद रीतिकाल में भी इस दिशा में शायद कुछ नहीं लिखा गया। सूर और तुलसी की तरह यदि और कवियों ने इस विषय पर कुछ किया होता तो इसका विकास धीमी गति से नहीं होता।

भारतेंदु युग में खुद भारतेंदु ने एक नाटक लिखा था–'अंधेर नगरी' जिसमें बच्चों की बचकानी दुनिया का कुछ अंश देखा जा सकता है। राजा लक्ष्मण सिंह का एक नाटक 'बालक भरत' भी इस दिशा में किए नए प्रयास का एक छोटा नमूना मान सकते हैं। सबसे बड़ा काम तो फ्रेडरिक पिंकाट ने किया। इंग्लैंड में बैठे-बैठे हिंदी में किताब लिख रहे थे वह भी बच्चों के लिए, चार भागों में। *बाल दीपक* नाम से उन्हीं की किताब उस समय बिहार के स्कूलों में पढ़ाई जाती थी। *बाल दीपक* की चर्चा आज भी होती है। *बेताल*

पच्चीसी और *सिंहासन बत्तीसी* के साथ-साथ *पंचतंत्र* और *हितोपदेश* का अनुवाद भी बालकों को रुचि के साथ पढ़ने का अवसर मिला।

द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त की एक कविता आई जिसका शीर्षक था 'सरकस'। इसकी काफ़ी चर्चा हुई। कुछ अंश–*होकर कौतूहल के बस में/ गया एक दिन मैं सरकस में/ भय-विस्मय के काम अनोखे/ देखे बहुत व्यायाम अनोखे।* उस युग में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब *सरस्वती* पत्रिका का संपादन कार्य भार अपने हाथों में लिया तो भाषा को प्रवाहमयी बनाने के साथ-साथ भावों की सरलता और सरसता के पक्ष में क़लम चलाने लगे। उन्हीं के सुर में सुर मिलाते हुए हरिऔध जी ने कुछेक कविताएं बालोपयोगी लिखीं लेकिन उन दिनों की लिखी बाल कविताओं का बालकों के ऊपर उतना असर नहीं पड़ने का ख़ास कारण यह था कि उस समय इस तरह के लेखन का रिवाज भी शुरू ही हुआ था। हां, नाटकों और कहानियों के साथ यह स्थिति नहीं होती थी और बच्चे पसंद करते थे। बच्चे तो बच्चे होते हैं। वे कोरे उपदेश की बातें सुनने में दिलचस्पी नहीं लेते। उनको चाहिए सुखराम चौबे 'गुणाकर' की तरह का रचनाकार। चौबे जी की कविता है–*गधा एक था मोटा-ताज़ा/ बन बैठा वह वन का राजा/ कहीं सिंह का चमड़ा पाया/ चट वैसा ही रूप बनाया।* इसको बहुत चाव से वह पढ़ता है क्योंकि उसकी मानसिकता उच्छृंखलताप्रिय है। वह चरित्र निर्माण और देश-प्रेम की बात भी सुनता है मगर वहां भी अपने आनंद और मनोरंजन को केंद्रीय भूमिका में रखता है।



बाल साहित्य के क्षेत्र में सुभद्राकुमारी चौहान का नाम अति महत्वपूर्ण है। चौहान की कविता हम जब पांचवीं-छठी कक्षा में थे तो कोर्स में पढ़ते थे, जो आज भी उतनी ही ताज़ा और प्रासंगिक है। कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं–

यह कदंब का पेड़ अगर मां होता यमुना तीरे
मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे-धीरे
दे देती यदि मुझे बांसुरी यह दो पैसे वाली
किसी तरह नीचे हो जाती वह कदंब की डाली।

इसी तरह एक दूसरी कविता भी बालक-मन को केंद्र में रखकर लिखी गई है। कुछ अंश प्रस्तुत हैं–

बार आती है मुझको मधुर याद बचपन तेरी
गया ले गया तू जीवन की सबसे मस्त खुशी मेरी।

बच्चन सिंह कहते हैं–"घरेलू कविताओं में *मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी* भी काफी लोकप्रिय है। इतना सहज महत्व और ऋजु वात्सल्य आधुनिक कविता में मिलना अत्यंत दुर्लभ है।" (*आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास*, 270)। उनकी तरह आज-कल कुछ कवि-लेखक इस दिशा में प्रयास करते भी हैं, लेकिन वे सफल नहीं हो पाते। अनुभूति बौद्धिकता के सांचे में ढल जाती है। अज्ञेय कहते हैं–"लेखक अपना अनुभूत ही लिखे, जो अनुभूत नहीं है, कोई सैद्धांतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर लिखना ऋणशोध हो सकता है, साहित्यिक नहीं।"

साहित्यकार को वर्ग-चरित्र का ज्ञान होना ज़रूरी है। बिना उसकी मनोदशा को जाने-समझे उस पर क़लम चलाने से रचना कारगर सिद्ध नहीं हो सकती। महसूसियत ज़िंदादिली पैदा करती है और इसमें सरसता निखार लाती है। गंभीर रचना भी हो सकती है और हुई भी है लेकिन बाल साहित्य की जो केंद्रकता है वह दूसरी चीज़ है। राजेश जोशी जब यह लिखते हैं–'कोहरे से ढकी सड़क पर बच्चे काम पर जा रहे हैं' और फिर नागार्जुन लिखते हैं–*छोड़कर तालाब मेरी झोपड़ी में खिल रहे जलजात* तो यह बाकायदा ऐसी कविता है जिसे समझने के लिए दिमाग़ चाहिए। पकी उमर वालों के लिए यह अनुभव विस्तार हो सकता है। यदि बच्चों को यह कविता दे दी जाए पढ़ने के लिए तो बावजूद इसके कि उन पर लिखी दर्द-प्यार भरी बातें हैं वो पढ़ने से कतराना चाहेंगे।

गद्य लेखन जब अपने अस्तित्व और प्रभाव में आया तो प्रेमचंद ने भी ढेरों कहानियां लिखीं। कई उपन्यास लिखे और अनुदित किए। उनका ध्यान बालक वर्ग विशेष पर भी था। *दुर्गादास* पहला उपन्यास है जो बालक-बालिकाओं को लिखा गया है। भूमिका में प्रेमचंद लिखते हैं–"बालकों के लिए राष्ट्र के सपूतों से बढ़कर उपयोगी, साहित्य का कोई दूसरा अंग नहीं है। इससे उनका चरित्र ही बलवान नहीं होता, उनमें राष्ट्र प्रेम और साहस का संचार भी होता है।" इसी तरह उनकी कुछ कहानियां भी बालकों को प्रभावित करती हैं जैसे 'ईदगाह', 'बड़े भाई साहब', 'गुल्ली डंडा', 'रक्षा में हत्या', 'बूढ़ी काकी' आदि। प्रेमचंद जानते थे कि एक बेहतर जीवन की शुरुआत बचपन से ही होती है। खुद एक टीचर और इंस्पेक्टर होने के कारण बच्चों के बीच रहने-समझने का मौका मिला था। गुलेरी जी की कहानी 'उसने कहा था' में भी बाल-मनोविज्ञान का आंशिक रूप देखने को मिलता है बल्कि बचपन की सहजता और लापरवाही से ही कहानी शुरू होती है। इसके चर्चित और लोकप्रिय होने का एक कारण यह भी रहा है।

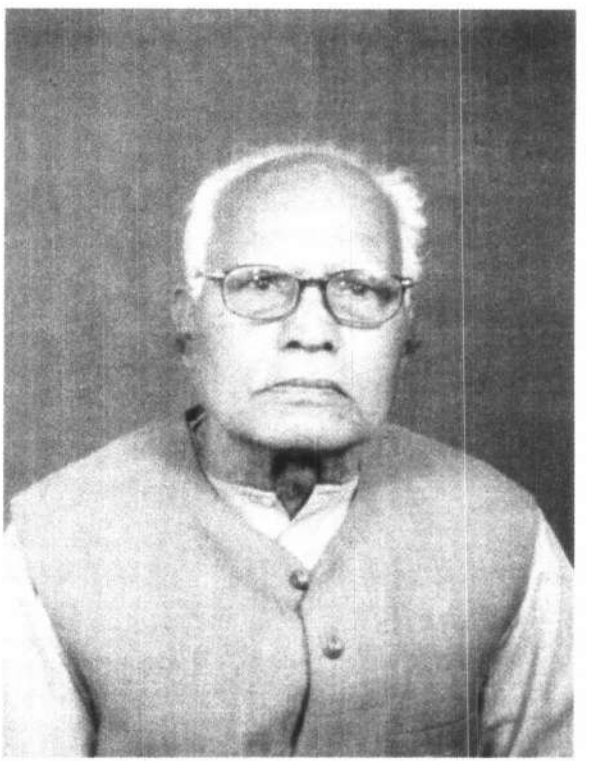
बालक की ज़िंदगी को आधार बनाकर लिखा गया हिंदी का सबसे सफल और कलात्मक उपन्यास है–मन्नू भंडारी का *आपका बंटी*। इसकी स्थूल कथा काफ़ी संक्षिप्त है। सुशिक्षित आधुनिक पति-पत्नी के अहं के टकराव से तनाव और फिर संबंध-विच्छेद। बंटी का स्थितियों में पिसते जाना और अकेले पड़ जाना इसी प्रक्रिया का अंग है। शिक्षित पति-पत्नी के अहं की मार बंटी को झेलनी पड़ती है। निर्मल वर्मा 'लाल टीन की छत' लिखते हैं जिसमें यह दर्शाया गया है कि किस तरह एक अबोध बच्ची अपनी निश्छलता के कारण गहन यातना और अकेलेपन की शिकार हो जाती है। अज्ञेय ने लिखा *शेखर : एक जीवनी*। इस उपन्यास में शेखर वह बालक है जो खुद से अपने जीवन को विस्तार देने में लगातार संघर्ष करता है। बच्चे इसे नहीं समझ सकते हैं। इसका जीवन-दर्शन आमफ़हम बिलकुल नहीं। फिर भी बालक इसमें तो है ही। रमेश चंद्र शाह *गोबर गणेश* में विनायक के ज़रिए बालकों की इच्छा-आकांक्षा को प्रकारांतर से प्रकट करने में कामयाब हो जाते

पृष्ठ 35 पर जारी

लिखना ही मेरी उपलब्धि है!

सुप्रसिद्ध बाल साहित्यकार ***श्रीप्रसाद*** *से* **शिप्रा सिंह** *की बातचीत*

वरिष्ठ लेखक श्रीप्रसाद पिछले छह दशकों से बाल साहित्य के क्षेत्र में बहुआयामी रूप से सक्रिय रहे हैं। बनारस में रहने वाले श्रीप्रसाद का जन्म आगरा जिले के पारना गांव में 1932 में हुआ। इन्होंने हिंदी में एम.ए. और बाल साहित्य में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सत्रह वर्ष की उम्र से, जब इनकी पहली बाल कविता प्रकाशित हुई, इनका जीवन बाल साहित्य के सृजन और विकास के लिए समर्पित रहा है। इनके द्वारा लिखे हज़ारों शिशुगीत और बाल कविताएं, कहानी, उपन्यास, नाटक और नृत्य-नाटक, साठ से अधिक पुस्तकों में प्रकाशित हैं। इनके बाल साहित्य में गहरी सांस्कृतिक चेतना, बच्चों के मन और विशेषकर उनके खिलंदड़े स्वभाव के प्रति संवेदनशीलता और भाषा व लय का चमत्कारिक प्रयोग बहुत आकर्षक है। मौलिक सृजन के अलावा इन्होंने न केवल अपने शोध और समीक्षा से बाल साहित्य का संवर्धन किया, बहुत से लेखकों को बाल साहित्य की ओर प्रेरित भी किया है। श्रीप्रसाद को अपने विस्तृत और अग्रणी योगदान के लिए कई सम्मान और पुरस्कार मिले हैं, जिनमें उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान (लखनऊ) द्वारा 'बाल साहित्य भारती सम्मान', 'हिंदी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद द्वारा 'साहित्य महोपाध्याय' मानद उपाधि और इसी वर्ष जून में दिल्ली की नाट्य संस्था 'उमंग' द्वारा 'रेखा जैन बाल रंग सम्मान' शामिल हैं।



प्रश्न : आपने लिखने की शुरुआत कब से की? पहली रचना कौन-सी थी? क्या बड़ों के लिए भी आप लिखते हैं?

उत्तर : मेरा लिखना आरंभ करने के दो रूप हैं। एक जब मैं मिडिल में पढ़ता था, उस समय परीक्षा में किसी दी गई पंक्ति पर कविता लिखने का प्रश्न आता था। कविता 10-12 पंक्ति की होती थी। इस प्रश्न के सिलसिले में कविता रचना पर ध्यान गया और मन के किसी कोने में कविता का अंकुर फूटा। छंद और अलंकारों का स्पर्श मिला? यह बात मन में बनी ही रही और मैं कालांतर में अपनी बोली ब्रज में सवैया लिखने की चेष्टा करने लगा।

1953 के आसपास में मेरा एक बाल नाटक प्रकाशित हुआ। इसी क्रम में मेरा विचार इस ओर गया कि बड़ों की तरह बच्चों के लिए भी साहित्य होना चाहिए। इस प्रकार लगभग एक दशक तक बड़ों के लिए कविताएं लिखने के अनंतर में बच्चों के लिए कविताएं लिखने लगा। आरंभ में कविताएं (शिशुगीत) लिखीं फिर अन्य विधाओं से जुड़ा। यहीं से मैं पूरी तरह बाल साहित्यकार हो गया। बाल साहित्य समीक्षा तो बड़ों के लिए ही होती है, पर इसके अतिरिक्त काव्य, कहानी, नाटक और उपन्यास आदि मैं बच्चों के लिए ही लिखता हूं।

आपकी कोई ऐसी रचना जिसमें आपने अपने जीवन के बारे में लिखा हो?

मेरी ऐसी कुछ कहानियां हैं जिनमें मेरे जीवन के संदर्भ हैं। ये कहानियां हैं 'सूरज', 'कित्ता पानी', 'बीस साल बाद' और 'मैं कुंवर साहिब से मिला' आदि।

बचपन की कोई ऐसी घटना जिसे आप आज भी याद करते हैं?

मेरा पूरा बचपन गांव का है। पिता साधारण किसान थे। थोड़ी-सी खेती थी और बड़ा परिवार। घर में कोई पढ़ता नहीं था। मैं भी खेती में ही सहयोग करता था। जानवर चरा लाता था। घर की गाड़ी जैसे-तैसे चलती। पिताजी हमेशा ग्रामीण बैंक के कर्ज़दार बने रहते। एक बार ऋण न चुका पाने के कारण बैंक के अधिकारी कुड़की करने आ गए। बैल, भैंस और गाय कुड़की में चले गए। सौ रुपये का बैल उन्तीस रुपये में गया। द्वार सूना हो गया। जब दरवाजे से भीड़ चली गई तो पिता जी और हम सब बच्चे घर में आए। मां आंगन में बैठी थी। पिता जी और मां रोने लगे। हम बच्चे खड़े-खड़े उन्हें देख रहे थे। किसी ने कुछ खाया-पिया नहीं था। दोपहर बीत चुका था। इस घटना को मैं आज भी याद करता हूं। बहुत दुखी होता हूं।

आजकल आपकी दिनचर्या क्या रहती है?

आजकल प्रातः कृत्य के अनंतर परिवार के साथ चाय पीता हूं। फिर समाचारपत्र देखता हूं। अनंतर लिखने में व्यस्त होता हूं। पहले की लिखी कविताओं की प्रतिलिपि करता हूं। कभी पूरी कविता कभी आधी। आज 1.7.2012 को लिखी कविता 'चंदा काका' की कुछ पंक्तियों की ही प्रतिलिपि की। मैं कविता लिखकर सुरक्षित रख लेता हूं। प्रथम लेखन के बाद उसे दुहरा लेता हूं और यदि संशोधन या परिवर्तन करना होता है तो उसी समय करता हूं। सुविधानुसार फिर जब स्थायी प्रतिलिपि करता हूं तो उस समय भी प्रतीत होने पर संशोधन करता हूं। मेरी हर विधा की रचना संशोधनों और परिवर्तनों से गुज़रती है। दिन प्रायः कविता से (प्रतिलिपि से) आरंभ करता हूं। दिन में गद्य। दोपहर एक बजे स्नान आदि के अनंतर भोजन और 3-4 बजे तक विश्राम। पुनः लिखने-पढ़ने से जुड़ाव। सायं एक साथ चाय, फिर एक घंटा भ्रमण। रात्रिभोजन के अनंतर साढ़े दस बजे के आसपास सो जाता हूं। टी. वी. जब तब ही देखता हूं।

बाल साहित्य लेखन की अपनी 60 साल की लंबी यात्रा में आपके लिए सबसे बड़ी उपलब्धि क्या रही है ?

मैं तो बराबर लिख रहा हूं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अपनी रचना देखकर खुश होता हूं। कहानियों के प्लान दिमाग़ में हैं। नाटकों की रचनाओं की योजना है और बाल साहित्य समीक्षा-विषयक कई लेख लिखने हैं। लिखना ही मेरी उपलब्धि है। अच्छे-बुरे का निर्णय पाठकों के हाथ। कई सम्मान और पुरस्कार भी मिले हैं। स्वीडिश भाषा के विश्व बाल काव्य-संग्रह में भारत से मुझे प्रतिनिधित्व दिया गया और मेरी कविता 'दिल्ली का जुकाम' को इतना ऊंचा दर्जा दिया गया, इसे मैं अपना अंतर्राष्ट्रीय सम्मान ही मानता हूं। बाल पाठ्य-पुस्तकों में मेरी एक दर्जन से अधिक कविताएं, नाटक और कहानी संकलित हैं, यह भी मेरे लिए प्रसन्नता की ही बात है। मेरी अनेक बालोपयोगी कहानियां पाठकों ने पसंद की हैं। पाठकों द्वारा पसंद की गई मेरी अनेक कविताएं हैं–'घोड़ा-गाड़ी', 'ताकधिना', 'नाव बना पानी में छोड़ें', 'रोटी', 'बस्ते का बोझ', 'राजघाट का पुल', 'इक्का', 'हाथी चल्लम-चल्लम', 'हमने डरना कभी न जाना' 'कव्वाली' (आप आए), 'लड़की', 'वृक्ष', 'बड़ा मज़ा आता', 'बिल्लू का ब्याह', 'आती है ये चिड़िया', 'हर सब्ज़ी में', 'जगाओ सूरज', 'एक आलू एक बैंगन' और 'रमोला' आदि।

इधर यहां (वाराणसी में) एक बाल नाटक और बाल साहित्य संगठन ने योजना बनाई है। उनके सहयोग से हर पंद्रह दिन पर एक बाल शिक्षा संस्था बालकाव्य पाठ का आयोजन करेगी और बच्चों के बीच में मेरी 10-11 बाल कविताओं का मेरे द्वारा एकल पाठ होगा। अस्तु, उपलब्धि बहुत विवादास्पद है। मुझे अनवरत सृजन ही अच्छा लगता है, जैसा मैं कर सकता हूं।

आज बच्चों के पास किताबों के अलावा कई विकल्प मौजूद हैं, जैसे इंटरनेट, टेलीविजन, विडिओ गेम, आई-पौड वग़ैरह तो क्या इस वजह से भी लोगों और बच्चों में बाल साहित्य के प्रति रुचि घट रही है?

यह सही है कि टीवी, इंटरनेट और वीडियोगेम के कारण बालपुस्तकों के प्रति बाल पाठकों की अभिरुचि कम हुई है। पर ऐसा तो विदेशों में भी है और गांवों में ये संसाधन उपलब्ध नहीं हैं। वास्तव में प्रचार-प्रसार का बहुत महत्व है। भारत के किसी गांव में आज तक कोई पुस्तक प्रदर्शनी नहीं लगी और शहरों में भी जब तब ही औपचारिकता के रूप में पुस्तक प्रदर्शनियां आयोजित होती हैं। पाठ्यपुस्तकों में अच्छी रचनाएं संकलित नहीं होतीं और परिवार बड़ी नौकरियों को अंग्रेज़ी भाषा से जोड़कर देखता है! फलतः परिवार में और शिक्षा संस्थाओं में हिंदी को हेय दृष्टि से देखा जाता है। बच्चे कविता के स्थान पर पोइम कहते हैं और पोइम अर्थात् 'टिंकिल टिंकिल'। यह संकट कम या अधिक सभी भारतीय भाषाओं के साथ है।

क्या वाकई आज ऐसा बाल साहित्य नहीं लिखा जा रहा है जो बच्चों को अपनी तरफ़ खींच सके ?

बच्चों को आकर्षित करने वाला श्रेष्ठ साहित्य लिखा जा रहा है। पर वह कम है। अब पुस्तकें कम प्रकाशित हो रही हैं। बाल पत्रिकाएं ही मुख्य माध्यम हैं। यहां भी कुछ ऐसे तत्व हैं जो अच्छे साहित्य को धक्का देकर अपनी जगह बना लेते हैं। इस संदर्भ में संपादकों का दायित्व बढ़ जाता है। वे अच्छा बाल साहित्य उपलब्ध कराएं। वास्तव में बाल साहित्य के प्रति बौद्धिक दृष्टि अपनानी होगी और उदात्तता का परिचय देते हुए पारदर्शी बनना होगा।

बच्चों के बीच हिंदी बाल साहित्य के लोकप्रिय न हो पाने के क्या कारण हैं?

हिंदीभाषी समाज अनेक वर्गों में बंटा हुआ है। जिन्हें हिंदीभाषी कहा जाता है, उनमें अनेक अपनी बोलियों को व्यवहार में लाते हैं। हिंदी उनके लिए पुस्तकीय बन जाती है। अन्य भाषाओं में ऐसा प्रायः नहीं है। हिंदीभाषियों में शिक्षा का भी अभाव है। हिंदीभाषी अभिभावक आर्थिक महत्वाकांक्षा के चलते अंग्रेज़ी को अधिक महत्त्व देते हैं। सरकारी और सामाजिक स्तर पर बाल साहित्य के चिंतन का अभाव है। यदि केवल बाल शिक्षा संस्थाओं और अभिभावकों का बाल साहित्य को प्रश्रय मिल जाए तो बाल साहित्य आगे बढ़े। आज समाज में भी अस्थिरता है। समझ बदलने पर अच्छे परिणाम की आशा की जा सकती है।

आज के बच्चों से आपकी अपेक्षाएं?

बच्चों को गांधी, नेहरू, रवींद्रनाथ टैगोर और डा. कलाम ने विशेष महत्त्व दिया था। बच्चे समाज में खिले हुए फूल जैसे लगते हैं। उनकी अस्मिता को विशेष महत्त्व मिलना चाहिए। वे श्रम से अध्ययन करें, माता-पिता और बड़ों का सम्मान करें, देशप्रेम का भाव रखें, समता को महत्त्व दें और बड़े होकर देश और समाज की सेवा करें। वे अपने ज्ञान की भूख बढ़ाएं और परिश्रम को महत्त्व दें।

एक बेहतर दुनिया की कल्पना आप किस रूप में करते हैं?

सबको शिक्षा, स्वास्थ्य, जीवन बिताने के साधन उपलब्ध हों। बच्चों के अधिकारों की पूर्ण रक्षा हो। वे सर्वत्र प्रसन्नचित हों। बच्चों की खुशी देश के विकास का मानक बने। बच्चों के खेल, बच्चों के सांस्कृतिक आयोजनों के साथ देश-भर के बच्चों को एक साझा मंच मिले। वर्ड्सवर्थ की कविता 'डैफोडिल्स' की रचना को जिस दिन दो सौ वर्ष पूरे हुए थे, इंग्लैंड में बीस लाख बच्चों ने समूह पाठ किया था। बेहतर दुनिया के संदर्भ में मेरे देश में भी ऐसा हो। मैं बेहतर दुनिया की कल्पना सांस्कृतिक विकास के रूप में मुख्यतः करता हूं। ❑

संपर्क : ए-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096

आप दिल पर न लीजिएगा

विनायक



वह शहर तब बनारस था। उसकी वह सुबह बिल्कुल उस जैसी ही थी। पोखर पर डोलती एक लहर सी। सुकोमल। वह छुट्टी का दिन था। इतवार। जुलाई का पहला ही सप्ताह। स्कूलों के खुलने का त्यौहार।

उस समय लहुराबीर वाराणसी का कनाट प्लेस था। लखनऊ का हज़रतगंज। वर्ष 1967 था, निश्चयपूर्वक। लहुराबीर चौसहे से लगा प्रकाश टाकी था। टाकीज़ के बाईं ओर महामंडल नगर में जाती एक चौड़ी गली थी। गली में घुसते ही वाम हाथ पर एक अधबनी-सी, बिना प्लास्टर की हुई, विशाल दोमंजिला इमारत थी। एकदम ठोस। इस इमारत में गली से एकदम सटे कतार से तीन कमरे उसके बाद गेट था उसके बाद एक और बड़ा कमरा था। पहले तीन कमरों में मेरा कार्यालय था और चौथे कमरे को मैंने, अपने रहने के लिए, व्यक्तिगत तौर पर किराए पर ले रखा था। इसी कमरे से लगा अंदर की ओर एक बरामदा था। बरामदे के एक छोर पर किचन व दूसरे छोर पर बाथरूम आदि था। बरामदे के नीचे बागबानी से सजा सहन था।

चढ़ती सुबह थी। कमरे में लेटे-लेटे ही मैंने दीवार-घड़ी पर नज़र डाली। दस पर छोटी सुई पहुंचने को बेताब थी। सेकेंड की पतली लाल सुई उचक-उचक कर सफर तय कर रही थी। अब तो किसी भी समय कालबेल बज सकती है। श्रीप्रकाश या आब्दी साहब कभी भी टपक सकते हैं। वाराणसी प्रवास के दौरान यही दो जन मेरे जिगरी दोस्त थे। हम एक-दूसरे से मिलने को बेचैन रहते। और मिलते तो घंटों फुर्र हो जाता। ज़रा भी समय मिलता हम आपस में जुड़ लेते। ठिकाना तो अपना कमरा ही होता।

उस आयताकार बड़े कमरे में एक ओर मेरा बेड लगा था और दूसरी ओर बेंत की बुनी, सोफ़ानुमा, चार कुर्सियां थीं जिनके बीच शीशे के टाप वाली एक सेंटर टेबुल थी। टेबुल भी आयताकार ही थी। कमरे का एक दरवाज़ा बाहर गली में खुलता, दूसरा अंदर बरामदे में। अंदर बरामदे की ओर ही ठीक बेड के सामने एक लंबी खिड़की थी। इसी खिड़की से मैं अपने बेड पर लेटा आंगन में फैली हरी-भरी लतरों को देखा करता।

तो वह सुबह बनारस थी। वरुणा व असी के हृदयस्थल की सुबह। दो जल धाराएं, जिन्होंने

बनारस को वाराणसी में परिवर्तित कर दिया था। नाम को सार्थकता ओढ़ाई थी।

आशा के अनुरूप ही कालबेल बजी। थोड़ा आलस खाते हुए मैंने बिस्तर छोड़ा और दरवाज़ा खोला। अपने उसी सफेद बुशर्ट और सफेद ही पैंट में आब्दी साहब उजागर हुए। पैरों में वही कोल्हापुरी चाकलेटी रंग वाली चप्पलें और एक हाथ की उंगलियों को दूसरे हाथ की उंगलियों से, हमेशा की तरह, बड़ी कोमलता से मींजते हुए। पतले-दुबले लंबे शरीर पर वही नाज़ुक-सी लरज और चेहरे पर वही पारदर्शी हंसी। मुझे देखते ही हंसी तेज़ की, बोले–"आप अभी सोकर उठे हैं क्या?"

"नहीं, सुबह नाश्ता करके फिर लेट गया था।" मेरा संक्षिप्त उत्तर।

आब्दी साहब एक सोफ़े में समायोजित होते कमरे में चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाने लगे। फिर सदा की भांति अपने पैंट की क्रीज ठीक करते उसी पुरानी अदा और बेतकल्लुफ़ी से हंसकर बोले–"मुझे लगता है कि आप जाविर खां से कुछ कहना चाहते हैं।"

मैं भी हंस पड़ा। उसी समय जाविर खां कमरे में दाख़िल होते बोले–"सलाम साहब! कुछ कहने की ज़रूरत नहीं, अभी चाय हाज़िर करता हूं।"

तभी फिर घंटी किर से बोली। आब्दी साहब अबकी ज़ोर से हंसे, बोले–"लीजिए जिनकी कमी थी आ गए। कोरम पूरा हुआ।"

अब श्रीप्रकाश सिंह हाज़िर थे। वही गोलाकार गोरा सुदर्शन चेहरा। लंबा सुगठित इकहरा शरीर। किसी हाकी के खिलाड़ी-सा फुर्तीला। आब्दी साहब पर नज़र पड़ते ही ठहाका, "मुझे मालूम था रात भर इन्हें नींद न आई होगी और यह सुबह यहीं मिलेंगे।"

अब जाविर खां की बात। सांवला रंग, ठिगना कद, अधेड़ उम्र और दाढ़ी-मूंछ व सिर के बाल सफ़ाचट। पैजामे के ऊपर दो जेब वाली खद्दर भंडार की बनियाइन। ये हमारे घरेलू सेवक हैं। बहुत ही निष्ठावान, विनम्र व फुर्तीले इंसान। चेहरे का अफ़साना और माहौल की इबारत सब पढ़ लेते हैं।

जाविर खां आए, मेज पर एक ट्रे में चाय की केतली, तीन खाली कप व बिस्कुट की प्लेट रखकर चले गए। ग्रीन लेबल की चाय से सारा कमरा गमक उठा।

"पाण्डेय जी के यहां की चाय पीने के बाद और कहीं की चाय पीने का मन ही नहीं करता", आब्दी साहब केतली से कपों में चाय उड़ेलते कहने लगे।

"बिल्कुल सच"–श्रीप्रकाश ने जोड़ा।

हमेशा की तरह बैठक जमाने के लिए कैरमबोर्ड मेज़ पर रखा गया और हम तीनों उसे घेर कर बैठ गए।

यही तो हमारा शगल था। शाम कार्यालय बंद होते ही हम इसी तरह जुटते और इसी तरह कैरमबोर्ड मेज़ पर आ जाता। गोटियां सज जातीं और हमारे हार-जीत की प्रतियोगिता चल निकलती। हम बारी-बारी से एक-दूसरे से खेलते और हार-जीत के नंबर लिखते जाते। सप्ताहांत में नंबरों का हिसाब-किताब होता। जो नंबर तीन पर आता सिनेमा दिखाता, जो नंबर दो पर आता चाय-पानी कराता। नंबर एक वाले के तो दोनों हाथों में लड्डू होते। हमारा साग दांव बस इतने पर ही रहता। हमें यह भी ध्यान रहता कि किसी पर अनावश्यक बोझ न पड़े। वैसे हमारा मिल-बैठना महज़ कैरम के लिए ही नहीं होता। वह तो महज़ एक निमित्त था तीन मित्रों के मिलने का। वैसे जब हम मिलते जीवन के मसले भी सुलझाते और बहस-मुबाहिसा भी करते। अपने सिद्धांतों के नश्तर भी लगाते। झगड़ते भी। लेकिन सबके नीचे अपनत्व व प्यार की एक अगोचर सरिता बहती रहती।

श्रीप्रकाश के आने के पश्चात सड़क की ओर का दरवाजा खोल दिया गया और पीले रंग वाली चिक लटका दी गई। बाहर वाला हमें नहीं देख सकता था लेकिन हमारी नजरें बाहर का जायज़ा ले सकती थीं। चिलमन की यही तो सिफ़त होती है।

अभी हम तीनों संयत हो बैठे ही थे और पहले स्ट्राइक करने वाले ने स्ट्राइकर हाथ में पकड़ा ही था कि एक विघ्न आ पड़ा। चिक उठी और एक बालक ने अपना सिर अंदर किया। आठ-नौ वर्ष का बालक। पहले तो हम कुछ चिढ़े लेकिन बच्चे के चेहरे की आभा देख हमारी खिन्नता काफ़ूर हो गई। गोल-मटोल सुंदर-सा चेहरा, गौरवर्ण, बड़ी-बड़ी उत्सुक-सी आंखें, पतले होंठ, ठोढ़ी के बीच गढ़ा, सब कुछ सुघड़। एकदम बालपन की मासूम कोमलता ओढ़े वह स्कूल ड्रेस में था। ख़ाकी हाफ पैंट, सफ़ेद कमीज और पैरों में पुराना सफेद किरमिच का जूता। बालक के हाथ-पैरों व चेहरे को तेल लगाकर चिकनाया गया था। बाल भी करीने से कढ़े थे। उसके हाथ में कुछ स्कूल की किताब-कापियां भी थीं। जैसे किसी मां ने अपने कलेजे के टुकड़े को साज-संवार कर स्कूल भेजा हो। मुझे खुद का बचपन और सात वर्ष की आयु में मुझे अलविदा कह चली जाने वाली, अपनी मां याद आ गई।

इतना सज-संवरने के बाद भी उस बालक की गरीबी कहीं-न-कहीं झलक मार ही रही थी। लेकिन बच्चे की स्मार्टनेस उसकी गरीबी पर हावी थी। हमारे पल-भर को कठोर हो गए चेहरों के भाव अब एकदम तरल हो उठे थे। उस बच्चे के चेहरे की कच्चे दूध-सी निश्छलता बतलाती थी कि वह कोई सड़क छाप मांगने वाला नहीं है। मैंने बड़ा मृदुल हो उसे अंदर आने को कहा। वह कुछ उत्साहित होता तेज़ी से अंदर आ गया। मैंने पूछा, "कैसे आए?" सोचा, यह कोई प्रमाण-पत्र आदि सत्यापित कराना चाहता होगा।

लेकिन ऐसा नहीं था। वह गोदौलिया, वाराणसी का मुख्य बाजार, के पास एक गली में स्थित एक मामूली से स्कूल में पढ़ता था। हो सकता है स्कूल नगरपालिका का रहा हो। वह कक्षा चार पास कर पांच में आ गया था और क्लास में सदा सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता था। वह अध्यापकों का बड़ा प्रिय शिष्य था।

लेकिन सब कुछ अच्छा नहीं था। उस बालक के जीवन का एक और पहलू था। बड़ा अंधकारमय और कटु। उसके कोई नहीं था केवल एक मां के। मां भी ग्लूकोमा के कारणी करीब-करीब अंधता को प्राप्त हो चुकी थी। कोई भाई-बहन भी नहीं। मां, सुबह शाम, किसी तरह ग्वालों के यहां से दूध लाकर बेचती और इसी से अपना और बच्चे का पेट भरा करती। लेकिन अब बच्चे की पढ़ाई का बोझ उठाने में मां एकदम असमर्थ हो गई थी। उसने बच्चे के सामने हाथ खड़े कर दिए। जब यह बात स्कूल में उसके टीचर को पता चली तो उन्होंने सलाह दी कि वह कुछ संभ्रांत व संपन्न लोगों से संपर्क करे, हो सकता है कोई उसकी सहायता कर दे।

बच्चे ने वही किया था और सबसे पहले मेरे दरवाजे पर आकर दस्तक दी थी। मैंने प्यार से पूछा–"तुम्हारा नाम क्या है?" उसने उसी फुर्तीलेपन से उत्तर दिया–"सनत कुमार।" हम तीनों मुग्ध हुए उसे देखते रहे। बालक की समस्या तत्कालिक नहीं थी। उसे एक दीर्घकालीन सहायता की आवश्यकता थी। वह समय के थपेड़ों का मारा था, यह सच था।

श्रीप्रकाश व आब्दी साहब मेरा स्वभाव जानते थे और उन्हें विश्वास था कि मैं उस बच्चे के लिए कुछ अवश्य करूंगा। उन्होंने एक उत्सुक व अर्थभरी दृष्टि से मेरी ओर ताका। मैंने बच्चे का एक हाथ अपने हाथ में ले लिया। एक भरोसे का हाथ। मेरे चेहरे पर एक प्यार भरी मुस्कुराहट छा गई, मैंने उसे देखते कहा–"घबराओ नहीं, तुम्हें पढ़ाई में

पूरी मदद मिलेगी।" फिर आगे जोड़ा–"अब तुम्हें कहीं और जाने की आवश्यकता नहीं।"

बच्चे की खुशी देखते बनती थी। अंग-अंग से बाहर छलकी पड़ रही थी। मैंने कहा–"कल सुबह ग्यारह बजे तुम्हारे स्कूल में आकर तुम्हारे टीचर से मिलूंगा, इंतज़ार करना।" जाते समय मैंने बच्चे को कुछ पैसे भी दिए। वह गद्‌गद् हो और भी प्रफुल्ल हो उठा। उत्साह से भरा हुआ उसने सबसे नमस्ते की और चिक उठा बाहर चला गया।

फिर हमारा खेल आगे नहीं बढ़ पाया, वहीं समाप्त हो गया। बोर्ड पर गोटें वैसी ही सजी रह गईं। हम कमरे से बाहर निकले और गली से निकलकर मुख्य मार्ग पर आ गए। मार्ग के ठीक उस पार एक अच्छा-सा साफ-सुथरा रेस्तरां था। रेस्तरां के सामने एक खूबसूरत लान था। हम सड़क पार कर रेस्तरां में आ गए। इस रेस्तरां की एक विशेषता यह थी कि इसमें की अधिकतर कुर्सियां बस ग्राहकों का इंतजार करते ही मिलतीं। रेस्तरां का मालिक हमारा मित्र था। कभी उसके त्राहि-त्राहि के दिनों में मैंने उसकी मदद की थी।

हम पर नज़र पड़ते ही वह काउंटर से उठा और हंसता हुआ हमारी टेबुल पर आकर बैठ गया। कुछ इधर-उधर की बातों के बाद दोसा खाने की रज़ामंदी हुई।

दूसरे दिन बिल्कुल ठीक समय पर मैं स्कूल पहुंच गया। एकदम मुख्य मार्ग के किनारे तथा स्कूल के करीब ही घोड़ों के पानी पीने की एक चरई थी जो शायद अंग्रेज़ों के ज़माने में ही बनी रही होगी जब इक्कों और तांगों का दौर था। अब, चरई पर शहर के कूड़े-कचरे का अंबार था। किसे फिक्र थी कि वहां बच्चों का एक छोटा-सा स्कूल है।

लड़का स्कूल के बाहर खड़ा मेरे आने की प्रतीक्षा ही कर रहा था। मुझे देखते ही भागकर स्कूल के अंदर गया और अपने कक्षा अध्यापक को बुला लाया। वे एक नवयुवक टीचर थे। खादी के सफेद कुर्ता-पायजामा में थे। टीचर ने बच्चे की भरपूर प्रशंसा की। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि व परिश्रम की विशेष चर्चा करते मेरे प्रति भी कृतज्ञता प्रकट की कि मैं उसका भविष्य बनाने में सहायता कर रहा हूं।

मैंने सनत कुमार की साल भर की स्कूल की फीस जमा कर दी। फिर स्कूल से छुट्टी दिलवाकर बाजार ले आया। उसे बाटा का सफेद किरमिच का जूता, एक जोड़ा स्कूल की ड्रेस व सारी किताब-कापियां खरिदवाई। मेरी आत्मा उस समय एक अजीब सुख व शांति से भर गई थी। वाराणसी के अपने चार साल के प्रवास में मैंने कभी किसी मंदिर या धर्मस्थली की दहलीज पर पैर नहीं रखा था और ना ही ऐसी शांति का अनुभव किया था। यह जीवन में पहली बार था जब मुझे लग रहा था कि मैं कोई पवित्र कार्य कर रहा हूं।

रिक्शे पर बिठाकर मैं सोनारपुरा की उस अंधेरी गली के नुक्कड़ पर सनतकुमार को छोड़ आया जिसमें कहीं पर उसका निवास था।

उसके पश्चात् तो महीने-दो-महीने पर सनतकुमार मेरे पास आता, सब हालचाल बताता और जो कुछ भी उसकी आवश्यकता होती उसकी पूर्ति मैं कर देता।

इधर हम तीनों मित्र उसी तरह जुटा करते और उस रेस्तरां में उसी तरह सप्ताह का जश्न होता। और उसी तरह बैठक के बीच-बीच में जाबिर खां द्वारा बनाई ग्रीन लेबल चाय चला करती। अब सनतकुमार सारे परिदृश्य से करीब-करीब ओझल था। सारा संबंध मेरे और सनत के बीच ही सिमट गया था। करीब वर्ष भर बाद मई माह में माहौल में थोड़ी गर्माहट उस समय फिर आई जब सनत कुमार के पांचवीं कक्षा का परीक्षाफल आया। उसने अबकी फिर टाप किया था। अब वह कक्षा छह में पहुंच गया था। वैसे उसका स्कूल मात्र कक्षा आठ तक ही था।

वाराणसी का उस समय एक बड़ा ही प्रतिष्ठित स्कूल था। उसकी पढ़ाई का स्तर बहुत ही ऊंचा था। एक प्रकार से वह अति समर्थ घरानों के बच्चों का स्कूल था जो अच्छी शिक्षा ख़रीदने की कूवत रखते थे। वह स्कूल कक्षा छह से कक्षा बारह तक था। इसमें कक्षा छह में प्रवेश के लिए बड़ी कठिन लिखित परीक्षा होती थी और मेरिट से बच्चे लिए जाते। एक जून को इसमें प्रवेश के लिए विज्ञापन निकला। सनत कुमार मेरे पास आया और इसकी प्रवेश परीक्षा में बैठने की इच्छा जताई। हालांकि मैं जानता था, उसके लिए उस स्कूल में प्रवेश पाना असंभव-सा ही है लेकिन बच्चे का दिल रखने के लिए मैंने प्रवेश-पत्र खरीदने के लिए पैसे दे दिए। 15 जून को परीक्षा हो गई और 22 जून को सफल विद्यार्थियों के नामों की लिस्ट स्कूल के नोटिस बोर्ड पर सुबह आठ बजे लग गई। सनत कुमार भी सुबह आठ बजे ही मेरे पास आ गया। मुझे परिणाम का अंदाज़ा था। इस कारण दिल कुछ बैठा-सा जा रहा था। मैं यही सोचकर परेशान था कि जो आघात इस मासूम पर अभी कुछ देर में लगने वाला है उसे यह कैसे बर्दाश्त करेगा। मैं घुमा-फिराकर उसे नसीहत दे रहा था कि परिश्रमी व होनहार बच्चे का भविष्य बनने से कोई रोक नहीं सकता। स्कूल चाहे जो हो। लेकिन वह बच्चा इतना उत्साहित था कि उसके चेहरे से साफ झलकता था कि मेरी बातों का उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ रहा है। अंत में मैंने अपने को ही समझाया कि यह बालक इतनी कठिन परिस्थितियों की उपज है कि जीवन का ऐसा कोई भी आघात उसे हतोत्साहित नहीं कर सकता। वास्तव में विपरीत परिस्थितियां उसके जीवन का पर्याय बन गई थीं।

हम सुबह ठीक दस बजे कमरे से चलकर मुख्य मार्ग तक आए। मुख्य मार्ग पर फिर कुछ दूर हम पैदल चले। सनत मेरे बाईं ओर मेरे हाथ की उंगली पकड़े चल रहा था। मुझे ऐसा अहसास हो रहा था कि जैसे कोई पिता अपने बच्चे को लेकर पहले दिन स्कूल छोड़ने जा रहा है। कुछ दूर पर हमें रिक्शा मिल गया और हमारी पैदल यात्रा समाप्त हुई।

जब हम कालेज पहुंचे तो ग्यारह बजने को हो आए थे। परिणाम देखने वालों की भीड़ भी काफी कुछ छंट चुकी थी। हम दोनों चौड़े बरामदे में लगे उस नोटिस बोर्ड के सामने आकर खड़े हो गए जिसमें लिस्ट टंगी थी। कुछ तो धक्का-मुक्की चल ही रही थी। मेरा दिल अब भी बोझिल हुआ-सा धक-धक कर रहा था। मैं सरसरी दृष्टि लिस्ट पर दौड़ाता फिर सनत का मुंह देखने लगता। लिस्ट में अपना नाम न पाकर वह भी मुरझाने-सा लगा था। उसने मेरा एक हाथ अपने दोनों हाथों से ज़ोर से पकड़ लिया। जैसे सहारा चाह रहा हो। उस समय तो समझो एक बालक की आशाओं की हत्या हो ही गई थी। जो शायद होनी ही थी। मैं उसकी बांह पकड़ वापस चलने लगा तो उसने अंतिम बार लिस्ट पर दृष्टि फिर डाली और एकदम से चीख़ पड़ा–"अरे साहब ऊपर देखिए! एकदम ऊपर।" मैंने टाप पर देखा, सचमुच उसी का नाम था–"सनत कुमार"। उस बच्चे ने वह कर दिखाया था जो शायद मेरे विचार में संभव था ही नहीं।

मैं चकित हो उसका मुंह देखने लगा। वह मारे खुशी के मुझसे लिपट गया। उसने अपना मुंह मेरे सीने में डुबो दिया। ऐसी खुशियां जीवन में शायद ही कभी मिलती हों। मेरी बाहों ने भी उसे घेर लिया। लिस्ट में एकदम नीचे एक सूचना थी कि सात जुलाई तक ट्रांसफर सर्टिफिकेट के साथ फ़ीस जमा करके प्रवेश ले लेना आवश्यक है अर्थात् काफी समय दिया गया था।

इस खुशी के झोंके के साथ ही एक खुशी की बौछार और आई। संघ लोक सेवा आयोग द्वारा मेरा चयन भारत सरकार में एक पद के लिए कर लिया गया था। तैनाती लखनऊ में की गई थी तथा पूरा यू.पी. मेरा कार्यक्षेत्र था। मंत्रालय ने मेरा

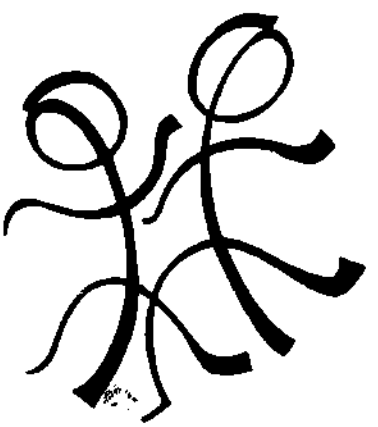
नियुक्ति पत्र मेरे वर्तमान विभाग के द्वारा भेजा था और पत्र मेरे विभाग में दबा पड़ा रह गया था। जब मुझे नियुक्ति पत्र मिला तो कार्यभार ग्रहण करने की अंतिम तिथि में कुछ ही दिन शेष थे। मैं एकदम से घबरा गया। फिर भी किसी तरह हड़बड़ी में कार्यमुक्त होकर पहली जुलाई को मैंने लखनऊ में पदभार ग्रहण कर लिया। दूसरे ही दिन दिल्ली मुख्यालय से मेरे पास सूचना आई कि मुझे तीन माह की विभागीय ट्रेनिंग के लिए पांच जुलाई को दिल्ली मुख्यालय पहुंचना है। अब तक मैं एक बड़ा ही शांतिपूर्ण जीवन जी रहा था और इस भागदौड़ की ज़िंदगी को अपनाने के लिए मानसिक रूप से बिल्कुल तैयार न था।

दिल्ली में पूरे भारत से लगभग पच्चीस चयनित उम्मीदवार आए थे। दिल्ली में मैंने पाया जैसे हरेक व्यक्ति बहुत ही रफ़्तार में हो और एक दूसरे से हर हथकंडे अपनाकर आगे निकल जाना चाहता हो। यह सब देखकर मैं बड़ा ही नर्वस-सा हो गया और उस जमात में अपने को एकदम अयोग्य-सा पाने लगा।

दिल्ली में मैं सोता तो रात भर नींद न आती। लगता मैं एक भंवर में आ फंसा हूं।

जब किसी तरह रो-गाकर तीन महीने के वे तनाव-भरे दिन बीते तो चलते समय एक-एक महीने का हमारे दौरे का कार्यक्रम बनवा दिया गया। इस नौकरी में हर कदम पर नई चुनौतियां और बड़ी गंभीर वित्तीय ज़िम्मेदारियां थीं। इस झंझावात में दो वर्ष कब कट गए कुछ पता ही न चला। तमाम पुराने दिन याद आते और जब न जब अंतस दुखाने लगते। इसी कारण मैं विगत की स्मृतियों को पीछे ढकेले रहता। आब्दी साहब, श्रीप्रकाश और सनतकुमार आदि ज़िंदगी में दूर छूट गए दिखाई देते। उस समय फोन भी इतना चलन में नहीं था। इसे तो हैसियत की निशानी मानी जाती थी। उसकी भी दशा यह थी कि एक बार मैं सीतापुर से दिल्ली अर्जेंट काल बुक करके एक्सचेंज पर रात-भर बैठा रहा लेकिन बात न हो पाई।

सनतकुमार के विषय में कभी यदि ख्याल आता भी तो बस मन को यही दिलासा देता कि उसे कोई-न-कोई सहारा मिल ही गया होगा। इस बीच मुझे सरकारी कार्यवश एक दिन के लिए वाराणसी जाने का अवसर मिला। मैं अपने अंदर बड़ा घबराया हुआ था कि वाराणसी का मेरा दो वर्ष पहले छोड़ा हुआ संसार अब न जाने किस हाल में मिले। मैं रेलवे स्टेशन के निकट ही पर्यटन विभाग के होटल में ठहरा। सुबह ही रिक्शा करके चेतगंज आब्दी साहब के घर पहुंचा। पता लगा उनकी नियुक्ति अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में हो गई है और वे वहीं पर हैं। फिर सीधे मैं श्रीप्रकाश सिंह के घर लक्सा गया। ग़नीमत थी श्रीप्रकाश सिंह घर पर मिल गए। वे अब भी बिल्कुल वैसे ही थे। अंतर इतना हुआ था कि कुछ अधिक स्वस्थ हो गए थे। पता नहीं श्रीप्रकाश क्यों कुछ सकुचा-सकुचा रहे थे। विश्वास ही नहीं होता था कि अपने ठहाकों से आसमान हिला देने वाला शख़्स यही है। उनके व्यवहार में कुछ शर्माने की सी गंध आ रही थी। कुछ देर नई-पुरानी बातें होती रहीं फिर एक दबी आह-सी भरते बोले–"अब बनारस वह नहीं रहा जो आपके साथ था।" मैंने



देखा कहते-कहते उनकी आंखें गीली हो आई हैं। उन्होंने यह भी बताया इन दो वर्षों में वे न तो महामंडल नगर की उस गली में गए और न उस रेस्तरां की ओर रुख़ किया। बताया आब्दी साहब के भी चले जाने के बाद तो सब कुछ जैसे वीरान हो गया।

एक और दुखद समाचार जब श्रीप्रकाश सिंह ने यह दिया कि जाबिर खां का फेफड़े के कैंसर से इंतकाल हो गया तो मैं अंदर तक हिल गया। पीले पड़ गए चेहरे से श्रीप्रकाश सिंह मुझे ताकते बड़े धीरे से बोले–"सच कहूं तो आप नाहक बनारस आए।" मैं सन्न हुआ-सा बैठा रह गया। अब तो हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि मैं सनतकुमार के विषय में कुछ पूछूं। वैसे तो मैं जानता था कि जब मेरे वहां रहते उनका उससे कोई अधिक सरोकार नहीं था तो मेरे वहां न रहने पर तो शायद ही उन्होंने उसकी कोई खोज-ख़बर रखी हो।

हम काफी देर बस चुपचाप रहे। पूरा माहौल बड़ा दुखभरा हो उठा था। कुछ समय बीतने के बाद श्रीप्रकाश सिंह कुछ सोचते बोले–"चलिए आज एक बार आपके साथ फिर उस रेस्तरां में चाय पी लें। पता नहीं अब फिर कब मुलाकात हो।"

हम और श्रीप्रकाश करीब तीन बजे आकर उसी पुराने रेस्तरां में बैठे। कुर्सियां वैसे ही ख़ाली पड़ी ग्राहकों की प्रतीक्षा कर रही थी। आज मैनेजर दिखाई नहीं पड़े। कोई वेटर ही काउंटर पर खड़ा था, मैरून रंग के कोट और क्रीम रंग के पैंट में। अभी हम बस दो चार मिनट ही बैठे थे कि श्रीप्रकाश सिंह के दिल में जाने क्या आया और वे कुछ हड़बड़ाते से उठ खड़े हुए। मेरा भी हाथ पकड़कर उठाया, बोले–"आइए, चलिए कहीं और चलें, यहां अच्छा नहीं लग रहा है।" मैं आश्चर्य से उनका मुंह देखे जा रहा था। बाहर लान में गेट के पास आकर वे पल-भर को खड़े हो गए, फिर मुझे देखते बोले–"चलिए, आज यहां आब्दी साहब की कमी बहुत खल रही है।" फिर रुककर कहा–"हम यहां जब भी आए तीनों साथ ही आए।" वे मुझे लेकर फिर अपने घर आ गए। रिक्शे पर हम चुपचाप ही बैठे रहे। मुझे श्रीप्रकाश का व्यवहार कुछ अजीब-सा लग रहा था, फिर भी मैं चुप ही रहा।

उसी रात मैंने वाराणसी से विदा ली। श्रीप्रकाश ट्रेन के छूट जाने तक भीगी आंखें लिए, प्लेटफार्म पर अंधेरे के एक टुकड़े में चुपचाप खड़े थे।

लखनऊ आने के करीब दस दिन बाद मुझे श्रीप्रकाश सिंह का एक पत्र मिला। लिफ़ाफे के ऊपर एक कोने में उन्होंने अपना हस्ताक्षर कर रखा था, 'श्रीप्रकाश सिंह'। मेरा दिल धड़कने लगा। आज तक श्रीप्रकाश सिंह ने अपने जीवन में शायद ही कोई पत्र लिखा हो। मेरे पास भी उनका यह पहला ही पत्र था। कांपते हाथों से मैंने लिफ़ाफ़ा खोला, बड़ा छोटा-सा मज़मून था–

प्रिय पाण्डेय जी,

उस दिन दिली इच्छा होते हुए भी आपके साथ उस रेस्तरां में चाय न पी सका। मैं नहीं चाहता था कि बनारस से आप दुखी होकर जाएं। रेस्तरां के बाहर प्रांगण के एक कोने में लगे बेसिन पर जो लड़का प्लेटें धो रहा था वह सनत था। आप दिल पर न लीजिएगा। जीवन में ऐसा कभी कुछ हो जाता है।

आपका श्रीप्रकाश

संपर्क : 8 कारपोरेशन फ्लैट, फ़ैजाबाद रोड, लखनऊ-226006 (उ.प्र.)

बाल साहित्य की चुनौतियां

क्षमा शर्मा

हाल ही में *स्टेट्समैन* में एक आर्टिकल छपा था–ब्रिटिशर्स आर हैविंग द लास्ट लाफ। इस आर्टिकल के साथ गांव के एक झोंपड़ीनुमा स्कूल का चित्र छपा था। इसमें स्कूल के नाम के साथ जुड़ा था फलां पब्लिक स्कूल। उसके बाहर झोला लटकाए बच्चे खड़े थे। नाम के साथ पब्लिक स्कूल जुड़ जाने का अर्थ है अंग्रेज़ी सीखने वाला स्कूल। दिल्ली में ही नहीं पूरे भारत में माता-पिता अपने बच्चों को अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ाना चाहते हैं। अच्छी तरह से बोलना सिखाना चाहते हैं। मान लिया गया है कि अंग्रेज़ी सफलता की एक कुंजी है। यह बात बार-बार साबित भी होती है। कहा तो यह जाता है कि सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों का रिज़्यूम कॉरपोरेट में एक तरफ़ खिसका दिया जाता है। उन्हें कोई देखता तक नहीं है। यही नहीं अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़ने वालों और सरकारी स्कूलों में पढ़ने वालों के वेतनमानों में भी भारी अंतर होता है। हिंदी माध्यम से पढ़ना नुकसानदायक है यह बात सबको समझ में आने लगी है। या यों कहें कि ऐसा बताया जा रहा है।

जब हम हिंदी बाल साहित्य की बात करते हैं तो हमारे ज़ेहन में प्रिंट मीडिया, किताबों के बिकने और छपने की बातें रहती हैं। मगर चुनौतियां सिर्फ प्रिंट मीडिया तक ही सीमित नहीं हैं। आज बच्चों में सबसे अधिक लोकप्रिय कार्टून चैनल्स हैं। ये कार्टून्स तर्क की हर सीमा से परे तथा रीयलिटी और फेंटेसी के अनोखे मिक्सचर होते हैं जबकि हमारे यहां अब भी बहुत से लोग फेंटेसी मात्र से नाक-भौं सिकोड़ते हैं। वे वैज्ञानिक विकास की छड़ी लिए फिरते हैं।

बहुत हद तक नौकरियों में अंग्रेज़ी का वर्चस्व है। इंटरव्यू में हिंदी बोलकर सफलता प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। सबका डेस्टीनेशन अमरीका या यूरोप है। ऐसा महसूस किया जाता है कि जो लोग नौकरी करने अमरीका या यूरोप चले आते हैं उनकी तकदीर रातोंरात बदल जाती है और इसके लिए अंग्रेज़ी जानना ज़रूरी है। यहां यह लेख अंग्रेज़ी विरोध में नहीं, रात-दिन चलाए जा रहे अंग्रेज़ीपरस्ती विचार का विरोध करता है।

जिन लोगों के ऊपर इन दिनों मीडिया के विकास या प्रकारांतर से कहें पैसे कमाने की ज़िम्मेदारी है वे उसी पीढ़ी से आए हैं जिन्होंने अंग्रेज़ी को एकमात्र सफलता का नुस्ख़ा मान रखा है। हिंदी-अंग्रेज़ी मीडिया बच्चों और उनके माता-पिता को बता रहा है कि अंग्रेज़ी सफलता की एकमात्र कुंजी है। सच यह है कि इसके पीछे ऐडवरटाइज़र्स का ज़ोर है। ऐडवरटाइज़र्स हिंदी उपभोक्ता की जेब से पैसा निकाल रहे हैं और मीडिया ऐडवरटाइज़र्स की जेब से। इन दोनों की मिलीभगत में उपभोक्ता ही पिट रहा है चाहे वह बच्चा ही क्यों न हो? अगर आपका बच्चा हिंदी बोलता है तो कहीं कोई कदर नहीं। हिंदी नौकरों, काम वालों, ग़रीबों और ख़रीददारों की भाषा है। साथ ही कंप्यूटर, मोबाइल पर काम करने के लिए अंग्रेज़ी आना तो ज़रूरी है ही।

महेश भट्ट ने हाल ही में एक सेमिनार के दौरान गर्वपूर्वक यह बात कही थी कि उनकी लड़की सबसे अंग्रेज़ी में बात करती है मगर अपनी नौकरानी से हिंदी में बोलती है। उन जैसा विचार रखने वाले लोग बढ़ते ही जा रहे हैं। मीडिया रात-दिन उन्हें दिखा रहा है। हिंदी क्लास की भाषा नहीं, बड़े लोगों की भाषा नहीं, ऐसे में आप ही बताइए कि कौन माता-पिता अपने बच्चे को क्लासेज़ की जगह मासेज़ में डालना चाहेगा। माता-पिता, अध्यापक, स्कूल हिंदी किताबों-पत्रिकाओं की जगह अंग्रेज़ी किताबें, पत्रिकाएं ख़रीदने पढ़ने पर ज़ोर देते हैं। हाल ही में एक सहयोगी ने अपने बच्चे के जन्मदिन पर रिटर्न गिफ़्ट के रूप में उसके दोस्तों को किताबें दी थीं। आपको आश्चर्य होगा कि किसी बच्चे को गिफ़्ट के रूप में किताबें पसंद नहीं आईं। ये किताबें हिंदी-अंग्रेज़ी दोनों की थी। लेकिन जिन बच्चों को हिंदी किताबें दी गई थीं उन्होंने और अधिक बुरा माना–किताब, वह भी हिंदी की, बच्चे ऐसा कहते पाए गए। हिंदी की किताबें जिन बच्चों को दी गईं उन्होंने बहुत ही हिकारत की नज़र से देखा। तब बताइए कि हिंदी बाल साहित्य के भविष्य और उसकी चुनौतियों को हम किस रूप में देख रहे हैं।

आज कहानी, कविता पुस्तक के मुकाबले टेक्नोलॉजी को किसी जादू की छड़ी की तरह बच्चे की हर समस्या को हल करने वाले की तरह से पेश किया जा रहा है। कौन-सा मोबाइल, कौन-सा आईपैड, टेबलेट। इनसे आप गाने सुनें, होमवर्क में मदद लें, चाहें तो कहानी भी सुन सकते हैं। यानी कि अलादीन के चिराग़ की तरह बच्चे की जो इच्छा है वह पूरी हो सकती है। बच्चे को इस तरह कन्ज्यूमर बनाने में जिस चीज़ का सबसे ज्यादा लोप हुआ है वह है उसके भावनात्मक संबल का।

महाराष्ट्र के एक सबसे अमीर स्कूल के बारे में *इंडियन एक्सप्रेस* ने छापा था कि माता-पिता इस स्कूल में अपने बच्चे का एडमिशन कराना बहुत उपलब्धि समझते हैं। इस महंगे स्कूल का ख़र्चा उठाना बहुत से अपरमिडिल क्लास माता-पिता तक के लिए भी मुश्किल है। इस स्कूल में पढ़ने वाले बहुत से बच्चों के माता-पिता अपने कैरियर को बनाने और उसे बचाए रखने के लिए नौकरी के बाद पार्टीज़ और संपर्क में इतने बिज़ी हैं कि छुट्टियों में भी नहीं चाहते कि बच्चे घर आएं। स्कूल अधिकारियों की यह खास शिकायत थी कि पेरेंट्स छुट्टी के दिनों में भी उनसे आग्रह करते हैं कि बच्चे को वहीं

रहने दिया जाए। क्योंकि यदि बच्चा घर आएगा तो सारा काम-धाम छोड़कर उन्हें छुट्टी लेनी होगी जो उनके कैरियर के लिए ठीक नहीं होगा। एक जुड़वां की मां ने कहा कि वह दोनों बच्चों की देखभाल एक साथ नहीं कर सकती इसलिए एक-एक करके बच्चों को घर भेजा जाए। इसीलिए अब स्कूल की छुट्टियों में ऐसे बच्चों को होस्टल में रखने की विशेष व्यवस्था करनी पड़ी है। कामकाजी मां के कारण बच्चे का अकेलापन बढ़ा है। हालांकि यहां यह बताकर औरतों के काम करने का विरोध नहीं किया जा रहा है। सोचिए कि एक बच्चा जो छुट्टियों में भी अपने घर नहीं जा सकता, उस पर क्या बीतती होगी। बड़ा होकर वह कैसा बनेगा? क्या एक मामूली-सा भावनात्मक रिश्ता उसका अपने माता-पिता और आगे चलकर इस समाज से रहेगा। या कि वह अपने बचपन के दिनों को किसी त्रासदी की तरह याद करेगा। पहले न्यूकलियर फ़ैमिलीज़ ने बच्चों के अकेलेपन को बढ़ाया था। अब मध्यवर्ग के बच्चों की यह तसवीर बन रही है। जहां सब कुछ है, मगर पास में माता-पिता, उनका प्यार-दुलार, डांट-फटकार कुछ भी नहीं है। डांट-फटकार भी केयर के रिश्ते से उपजती है मगर आज का बच्चा इससे भी दूर है। तो क्या हमारी रचनाएं इस बच्चे से रू-ब-रू हैं। अकेलेपन में बड़े हो रहे ये बच्चे क्या हम सबके लिए एक चुनौती नहीं? बहुत-सी रिसर्च और सर्वेक्षण इस बात को बार-बार बता रहे हैं कि बच्चों में पढ़ने और खेलने की आदत कम हो रही है। वैसे भी महानगरों में तो स्कूलों में भी खेलने की जगह नहीं है। बच्चे टी. वी., कंप्यूटर से चिपके रहते हैं। इससे उनमें वे तमाम रोग पैदा हो रहे हैं जो बड़ों की बीमारियां माने जाते हैं। वे मोटापे की महामारी को झेल रहे हैं। जब बच्चे पढ़ते नहीं तब हम किस साहित्य और चुनौती की बात कर रहे हैं? यही नहीं बच्चों की दुनिया में जो देखा गया है वही सच है। रामायण, महाभारत के गणेश, हनुमान सब उनके लिए टी.वी. के पात्र हैं। इनसे संबंधित कोई पुस्तकें भी हैं? बच्चे बहुत कम बता पाएंगे।

पिछले दिनों में क्या आपने कोई फ़िल्म, ख़बर, विज्ञापन या कार्यक्रम ऐसा देखा है जिसमें कोई बच्चा माता-पिता से किसी किताब की फ़र्माइश कर रहा हो? शायद नहीं। लेकिन आजकल ऐसे आर्टिकल बार-बार देखने को मिलते हैं जिनमें बताया जाता है कि बच्चे माता-पिता की ख़रीददारी की च्वाइस को डिक्टेट कर रहे हैं। वे कार ख़रीदने से लेकर, घर, कपड़ों, मोबाइल, जूतों का ब्रांड तय कर रहे हैं। सलमान और शाहरुख की तरह सिक्स पैक्स की बात कर रहे हैं। ब्रिटेन में, अमरीका में चार साल की बच्चियां डाइटिंग कर रही हैं। रियलिटी शोज़ की तरह बात करना सीख रही हैं। इन बातों से बच्चों की मासूमियत खत्म हो रही है। कॉरपोरेट और मीडिया इसे 'ग्रोथ' बता रहा है। वह बच्चे की ज़िद को एक पॉज़िटिव वैल्यू में बदल रहा है। क्या सचमुच इसे कहते हैं ग्रोथ? यदि आप मीडिया में छपने वाली सक्सेस स्टोरीज पर नज़र डालें तो ऐसा लगता है कि जो सफ़ल है बस वही जीने लायक है, वही दिखने लायक है। उसी की ख़बर बन सकती है। अगर आप इनके खिलाफ लिखते हैं, इन पर सवाल उठाते हैं तो पिछड़े और रूढ़िवादी कहलाते हैं। अगर आप नहीं लिखते तो निश्चय ही आपकी कहानी-कविताओं को कोई नहीं पढ़ने वाला। हम लेखक इस भ्रम में ज़रूर रह सकते हैं कि हमने तो बच्चों की दुनिया बदल दी। और हमारी किताबों के तो कई-कई संस्करण निकल चुके। कई भाषाओं में अनुवाद हो गए। ये पुरस्कार और वो पुरस्कार सारे मिल गए।

जिन देशों के बच्चों के लिए बड़े लोकतांत्रिक नियम-कायदे विकसित किए थे, वे ही ख़ास तौर से ब्रिटेन–वहां कहा जा रहा है कि हमारे यहां बच्चों को बहुत आजादी है। उन्हें सज़ा नहीं मिलती, इसलिए वे बहुत बिगड़ गए हैं। इसलिए बच्चों को कॉरपोरल पनिशमेंट दिया जाना चाहिए। सोचिए कि इस दौर में वहां बच्चों को छड़ी दिखाने की परंपरा की वापसी की मांग की जा रही है।

मध्यवर्ग अपने बच्चों की ख़्वाहिशों पर इतरा रहा है। माता-पिता अपने बच्चों के बारे में काफ़ी इतराकर बताते हैं कि उनका बच्चा तो सिर्फ ब्रांड मांगता है वह भी महंगी से महंगी। सूचना के एक्सप्लोज़न ने बच्चों को और अधिक लालची और पेटू बना दिया है। कंपनियां बच्चे को उपभोक्ता बनाकर बहुत खुश हो रही हैं। कहते हैं न कि 'ओल्ड हैबिट्स डाई हार्ड'। अगर बच्चा बचपन से ही किसी ब्रांड को पसंद करने लगे तो कम-से-कम पचास साल तक कंपनी को अपना एक उपभोक्ता और उसके बदले में मिलने वाला मुनाफ़ा पक्का हो गया। जिन बच्चों के पास साधन हैं उनकी तमन्नाएं तो पूरी हो जाती हैं लेकिन जिनकी नहीं हो पातीं वे अधिकतर अपराध के चंगुल में फंस जाते हैं और कई बार उससे बाहर नहीं निकल पाते। हर बच्चे में आगे बढ़ने की नहीं दूसरे को पछाड़ने की होड़ लगी है। दूसरे को पछाड़ने में हिंसा भी एक विकल्प के तौर पर उभरती है। चोरी-चकारी, झपटमारी इसके औज़ार बनते हैं। थोड़े दिन पहले ही एक रिपोर्ट में बताया गया था कि बच्चे अपराध की दुनिया में बड़ी संख्या में जा रहे हैं। सर्वे बताते हैं कि बच्चों में पढ़ने की आदतें कम हो रही हैं। वे खेलते भी नहीं हैं। महानगरों में तो खेलने की जगहें भी कम हैं।

अकसर जब हम हिंदी बाल साहित्य की बात करते हैं तो हमारे ज़ेहन में प्रिंट मीडिया रहता है। किताबों के बिकने और छपने की बातें रहती हैं। मगर चुनौतियां सिर्फ प्रिंट मीडिया तक ही सीमित नहीं हैं। आज बच्चों में सबसे अधिक लोकप्रिय कार्टून चैनल्स हैं। बच्चे इन्हें देखना बहुत पसंद करते हैं। आख़िर वे क्यों ऐसा करते हैं? ये कार्टून्स तर्क की हर सीमा से परे तथा रीयलिटी और फेंटेसी के अनोखे मिक्सचर होते हैं जबकि हमारे यहां अब भी बहुत से लोग फेंटेसी मात्र से नाक-भौं सिकोड़ते हैं। वे वैज्ञानिक विकास की छड़ी लिए फिरते हैं। कार्टून्स ऐनीमेशन से बनते हैं। टी.वी., कंप्यूटर, सीडी, डीवीडी, पैनड्राइव या सिनेमा हॉल्स में देखे जाते हैं। ये सब उच्च तकनीक का परिणाम हैं। तकनीक वैज्ञानिक विकास का ही हिस्सा है। दूसरी तरफ़ एक यह बात भी सुनाई देती है कि हिंदी में कोई किताब हैरी पाटर की तरह लोकप्रिय क्यों नहीं होती। सच्चाई यह ही तो है कि हैरी पाटर की जो हार्श मार्केटिंग की गई, जिसमें इंफोटेनमेंट के तमाम माध्यमों ने उसे घर-घर तक पहुंचाया क्या आज तक भारत में बच्चों की तो क्या बड़ों की भी किसी किताब के साथ ऐसा हुआ है। बच्चों की किताबों के प्रति तो वैसे ही उदासीनता बिखरी पड़ी है।

हर रोज चुनौतियां बढ़ रही हैं। सवाल तो यही है कि उनसे कैसे निपटा जाए। तो सवाल शायद यही है कि क्या हमारा बाल साहित्य इन चुनौतियों से निपटने को तैयार है। क्या लेखक इस बच्चे को संबोधित कर रहे हैं। वह बच्चा और उसके माता-पिता आज की चुनौतियों को बच्चे की खूबी की तरह देख रहे हैं। एक तरफ़ उन कविता-कहानियों से बचना है जो बच्चे को मार-मारकर उपदेश की घुट्टी पिलाते हों, तो दूसरी तरफ़ उस बच्चे को देखना है जिसकी हर इच्छा पूरी हो रही है मगर वह खुश नहीं है। ❑

संपर्क : 17/बी।, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091

बाल साहित्य और विज्ञान लेखन

ओमप्रकाश कश्यप

सर्वप्रथम यह जान लेना उचित होगा कि आख़िर विज्ञान लेखन है, क्या? वह कौन-सा गुण है जो कथित विज्ञान साहित्य को सामान्य साहित्य से अलग कर, उसे विशिष्ट पहचान देता है? और यह भी कि किसी साहित्य को विज्ञान साहित्य की कोटि में रखने की कसौटी क्या हो? क्या केवल वैज्ञानिक खोजों, उपकरणों, नियम, सिद्धांत, परिकल्पना, तकनीक, आविष्कारों आदि को केंद्र में रखकर कथानक गढ़ लेना ही विज्ञान साहित्य है? यदि हां, तो क्या किसी भी निराधार परिकल्पना को विज्ञान साहित्य का प्रस्थान बिंदु बनाया जा सकता है? क्या वैज्ञानिक तथ्य से परे भी विज्ञान साहित्य या विज्ञान फंतासी की रचना संभव है? कुछ अन्य प्रश्न भी इसमें सम्मिलित हो सकते हैं जैसे विज्ञान साहित्य की धारा को कितना और क्यों महत्त्व दिया जाए? जीवन में विज्ञान जितना जरूरी है, उतना तो बच्चे अपने पाठ्यक्रम के हिस्से के रूप में पढ़ते ही हैं। फिर अलग से विज्ञान साहित्य की जरूरत क्या है? यदि जरूरत है तो पाठ्य-पुस्तकों में छपी विज्ञानपरक सामग्री तथा विज्ञान साहित्य के बीच विभाजन रेखा क्या हो? एक-दूसरे से अलग दिखनेवाले ये प्रश्न परस्पर संबद्ध हैं। यदि हम साहित्य के वैज्ञानिक पक्ष को जान लेते हैं तो इनकी आसंगता स्वयं दस्तक देने लगती है।

> *विज्ञान के बारे में बालक पाठशाला में जो कुछ पढ़ता था, वह केवल उसके शिक्षा-सदन तक ही सीमित रहता था। घर-समाज में विज्ञान के उपयोग, परिवेश में उसको समझाने वाला कोई न था। घर आकर यदि वह वैज्ञानिक प्रयोगों को दोहराना चाहे तो प्रोत्साहन की संभावना नहीं थी। विज्ञान और उसके साथ विज्ञान-लेखन की स्थिति पूरी तरह डांवाडोल थी। भारतीय समाज में वैज्ञानिक बोध के प्रति उदासीनता तब थी जबकि प्रथम वैज्ञानिक क्रांति को हुए चार शताब्दियां गुज़र चुकी थीं। आज़ादी के बाद हिंदी विज्ञान साहित्य की स्थिति में सुधार आया है तथापि मौलिक सोच और स्तरीय रचनाओं की आज भी कमी है।*

विज्ञान वस्तुतः एक ख़ास दृष्टिबोध, विशिष्ट अध्ययन पद्धति है। वह व्यक्ति की प्रश्नाकुलता का समाधान करती है और क्रमशः आगे बढ़ाती है। आसपास घट रही घटनाओं के मूल में जो कारण हैं, उनका क्रमबद्ध, विश्लेषणात्मक एवं तर्कसंगत बोध, जिसे प्रयोगों की कसौटी पर जांचा जा सके–विज्ञान है। इन्हीं प्रयोगों, क्रमबद्ध ज्ञान की विभिन्न शैलियों, व्यक्ति की प्रश्नाकुलता और ज्ञानार्जन की ललक, उसके प्रभावों तथा निष्कर्षों की तार्किक, कल्पनात्मक एवं मनोरंजक प्रस्तुति विज्ञान साहित्य का उद्देश्य है। संक्षेप में विज्ञान साहित्य का लक्ष्य बच्चों के मनस् में विज्ञान-बोध का विस्तार करना है, ताकि वे अपनी निकटवर्ती घटनाओं का अवलोकन वैज्ञानिक प्रबोधन के साथ कर सकें। लेकिन वैज्ञानिक खोजों का यथातथ्य विवरण विज्ञान साहित्य नहीं है। यह विज्ञान पत्रकारिता का विषय तो हो सकता है, विज्ञान साहित्य का नहीं। कोई रचना तभी साहित्य की गरिमा प्राप्त कर पाती है, जब उसमें समाज के बहुसंख्यक वर्ग के कल्याण की भावना जुड़ी हो। कहने का आशय है कि कोई भी नया शोध अथवा विचार, वैज्ञानिक कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरने के बावजूद, लोकोपकारी हुए बग़ैर विज्ञान साहित्य का हिस्सा नहीं बन सकता। यही क्षीण मगर सुस्पष्ट रेखा है जो विज्ञानपरक सामग्री एवं विज्ञान साहित्य को विभाजित करती है।

विज्ञान कथा को अंग्रेज़ी में 'साइंस फेंटेसी' अथवा 'साइंस फ़िक्शन' कहा जाता है। एक जैसे दिखने के बावजूद इन दोनों रूपों में पर्याप्त अंतर है। अंग्रेज़ी शब्द Fiction लैटिन मूल के शब्द Fictus से व्युत्पन्न है जिसका अभिप्राय है–गढ़ना अथवा रूप देना। इस प्रकार कि पुराना रूप सिमटकर नए कलेवर में ढल जाए। फ़िक्शन को 'क़िस्सा' या 'कहानी' के पर्याय के रूप में भी देख सकते हैं। 'विज्ञान-कथा' को 'साइंस फ़िक्शन' के हिंदी पर्याय के रूप में लेने का चलन है। इस तरह 'विज्ञान-कथा' या 'साइंस फ़िक्शन' आमतौर पर ऐसे क़िस्से अथवा कहानी को कहा जाता है जो समाज पर विज्ञान के वास्तविक अथवा काल्पनिक प्रभाव से बने प्रसंग को कहन की शैली में व्यक्त करे तथा उसके पीछे अनिवार्यतः कोई-न-कोई वैज्ञानिक सिद्धांत हो। 'साइंस फेंटेसी' के हिंदी पर्याय के रूप में 'विज्ञान-गल्प' शब्द प्रचलित है। Fantasy शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन मूल के शब्द Phantasia से हुई है। इसका शाब्दिक अर्थ है–'कपोल कल्पना' अथवा 'कोरी कल्पना'। जब इसका उपयोग किसी दूरागत वैज्ञानिक परिकल्पना के रूप में किया जाता है, तब उसे 'विज्ञान-गल्प' कहा जाता है। महान मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने कल्पना को 'प्राथमिक कल्पना' और 'द्वितीयक कल्पना' के रूप में वर्गीकृत किया है। उसके अनुसार प्राथमिक कल्पनाएं अवचेतन से स्वतः जन्म लेती हैं, जैसे किसी शिशु का नींद में मुस्कराना, पसंदीदा खिलौने को देखकर किलकारी मारना। खिलौने को देख बालक की कल्पना-शक्ति अचानक विस्तार लेने लगती है। वह उनकी आंतरिक संरचना जानने को उत्सुक हो उठता है। यहां तक कि तोड़-फोड़ भी करता है। द्वितीयक कल्पनाएं चाहे वे स्वयं-स्फूर्त हों अथवा सायास, चैतन्य मन की अभिरचना होती हैं। ये प्रायः वयस्क व्यक्ति द्वारा रचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में विस्तार पाती हैं। साहित्यिक रचना तथा दूसरी कला प्रस्तुतियां द्वितीयक कल्पना की देन कही जा सकती हैं। प्रख्यात डेनिश कथाकार हैंस एंडरसन ने बच्चों के लिए परीकथाएं लिखते समय अद्भुत कल्पनाओं की सृष्टि की थी। एच. जी. वेल्स की विज्ञान फंतासी 'टाइम मशीन' भी रचनात्मक कल्पना की देन है। तदनुसार 'विज्ञान-गल्प' ऐसी काल्पनिक कहानी को कहा जा सकता है, जिसका यथार्थ

से दूर का रिश्ता हो, साथ ही उसकी नींव ज्ञात अथवा काल्पनिक वैज्ञानिक सिद्धांत या आविष्कार के ऊपर रखी जाए।

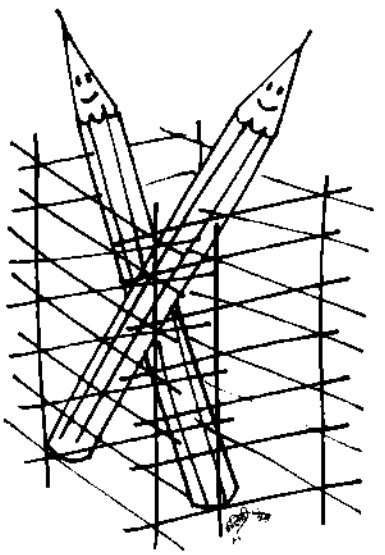
'विज्ञान-गल्प' में लेखक घटनाओं, सिद्धांतों, नियमों अथवा अन्यान्य स्थितियों की मनचाही कल्पना करने को स्वतंत्र होता है, बशर्ते उन वैज्ञानिक नियमों, आविष्कारों की नींव किसी ज्ञात वैज्ञानिक नियम, सिद्धांत अथवा आविष्कार पर टिकी हो। फिर भले ही निकट भविष्य में उस परिकल्पना के सत्य होने की कोई संभावना न हो। यहां तक आते-आते 'विज्ञान-कथा' और 'विज्ञान-गल्प' का अंतर स्पष्ट होने लगता है। 'विज्ञान-कथा' में आमतौर पर ज्ञात वैज्ञानिक तथ्य अथवा उसके काल्पनिक विस्तार का उपयोग किया जाता है जबकि 'विज्ञान फेंटेसी' अथवा 'विज्ञान-गल्प' में कथानक के साथ वैज्ञानिक सिद्धांत अथवा आविष्कार भी कल्पित हो सकता है। हालांकि उसकी कल्पना किसी ज्ञात वैज्ञानिक खोज का विस्तार हो सकती है। 'विज्ञान-कथा' की अपेक्षा 'विज्ञान-गल्प' में लेखकीय उड़ान के लिए कहीं बड़ा अंतरिक्ष होता है। इससे विज्ञान-गल्प के अपेक्षाकृत ज्यादा मनोरंजक होने की संभावना होती है। इस कारण बाल एवं किशोर साहित्य; यानी जहां सघन कल्पनाशीलता अपेक्षित हो–उसका अधिक प्रयोग होता है। उपन्यास जैसी अपेक्षाकृत लंबी रचना में मनोरंजन अनुपात को बनाए रखना चुनौतीपूर्ण होता है। अतः दक्ष विज्ञान कथाकार उपन्यास लेखन के लिए गल्प-प्रधान किस्सागोई शैली को अपनाता है। इससे साहित्य और विज्ञान दोनों का उद्देश्य सध जाता है। विश्व के चर्चित विज्ञान उपन्यासों में अधिकांश 'विज्ञान-गल्प' की श्रेणी में आते हैं।

विज्ञान लेखन की कसौटी उसका मज़बूत सैद्धांतिक आधार है। चाहे वह विज्ञान कथा हो या गल्प, उसके मूल में किसी वैज्ञानिक सिद्धांत अथवा ऐसी परिकल्पना को होना चाहिए जिसका आधार जांचा-परखा वैज्ञानिक सत्य हो। वैज्ञानिक तथ्यों को समझे बिना विज्ञान-कथा अथवा 'विज्ञान-गल्प' का कोई औचित्य नहीं बन सकता। अक्सर यह देखा गया है कि विज्ञान के किसी आधुनिकतम उपकरण अथवा नई खोज को आधार बनाकर अति-उत्साही लेखक रचना गढ़ देते हैं। लेकिन विज्ञान साहित्य का दर्जा दिलाने के लिए जो स्थितियां गढ़ी जाती हैं, उनका वैज्ञानिक सिद्धांत अथवा परिकल्पना से कोई वास्ता नहीं होता। न ही लेखक अपनी रचना के माध्यम से ब्रह्मांड के किसी रहस्य के पीछे मौजूद वैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन करना चाहता है। वह उसकी कल्पना से उद्भूत तथा वहीं तक सीमित होता है। ऐसी अवस्था में पाठक को चमत्कार के अलावा और कुछ मिल ही नहीं पाता। यह चामत्कारिता परीकथाओं या जादू-टोने के आधार पर रची गई रचनाओं जैसी ही अविवेकी एवं निरावलंबी होती है। ऐसी विज्ञान फंतासी उतना ही भ्रम फैलाती हैं, जितना कि गैर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर रची गई तंत्र-मंत्र और जादू-टोने की कहानियां। बल्कि कई बार तो उससे भी ज्यादा। इसलिए कि सामान्य परीकथाओं में संवेदनतत्त्व का प्राचुर्य होता है जबकि तर्काधारित विज्ञान-कथाएं किसी-न-किसी रूप में व्यक्ति के हाथों में विज्ञान की ताकत के आने का भरोसा जताती हैं। इस ताकत की अनुभूति व्यक्ति की संवेदनशीलता एवं सामाजिकता को आहत करती है। 'विज्ञान-कथा' अथवा 'विज्ञान-गल्प' की रचना हेतु लेखक को विज्ञान के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष की जानकारी होना अनिवार्य है। कोई रचना 'विज्ञान-कथा' है अथवा 'विज्ञान-गल्प', कई बार यह भेद कर पाना भी कठिन हो जाता है। असल में यह अंतर इतना बारीक है कि जब तक वैज्ञानिक नियमों, आविष्कारों तथा शोध-क्षेत्रों का पर्याप्त ज्ञान न हो, अच्छे-से-अच्छे लेखक-समीक्षक के धोखा खाने की पूरी संभावना होती है।

पश्चिमी देशों में विज्ञान लेखन की नींव उन्नीसवीं शताब्दी में रखी जा चुकी थी। विज्ञान के पितामह कहे जाने वाले फ्रांसिस बेकन ने सोलहवीं शताब्दी में 'ज्ञान ही शक्ति है' कहकर उसका स्वागत किया था। बहुत जल्दी 'ज्ञान' का आशय, विशेषरूप से उत्पादन के क्षेत्र में, विज्ञान से लिया जाने लगा। सरलीकरण के इस ख़तरे को वाल्तेयर ने तत्क्षण भांप लिया था। बेकन की आलोचना करते हुए उसने कहा था कि विज्ञान का अतिरेकी प्रयोग मनुष्यता के नए संकटों को जन्म देगा। वाल्तेयर के बाद इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करने वाला रूसो था। अप्रगतिशील और प्रकृतिवादी कहे जाने का ख़तरा उठाकर भी अपने बहुचर्चित निबंध Discourse on the Arts and Sciences में उसने सबकुछ विज्ञान भरोसे छोड़ देने के रवैये की तीखी आलोचना की थी। अंततः वही हुआ जैसा वाल्तेयर तथा रूसो ने सोचा था। बीसवीं शताब्दी में आइंस्टाइन के ऊर्जा सिद्धांत के आधार पर निर्मित परमाणु बम से तो ख़तरा पूरी तरह सामने आ गया। आइंस्टाइन ने ही सिद्ध किया था कि भारी परमाणु के नाभिक को न्यूट्रॉन कणों की बौछार द्वारा विखंडित किया जा सकता है। इससे असीमित ऊर्जा की प्राप्ति होती है। इस असाधारण खोज ने परमाणु बम को जन्म दिया। उसके पीछे था मरने-मारने का सामंती संस्कार। अकेला बम दुनिया की एक-तिहाई आबादी को एक झटके में ख़त्म कर सकता है। यह डर लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ। ऊपर से भय का मनोविज्ञान। उसने दार्शनिकों, वैज्ञानिकों समेत पूरे बुद्धिजीवी समाज को इतनी गहराई से प्रभावित किया कि विज्ञान बुद्धिजीवी वर्ग का नया धर्म बन गया। लोग उसके विरोध में कुछ भी सुनने को तैयार न थे जबकि मनुष्यता के हित में उससे अधिक हितकारी आविष्कार पेनसिलिन का था, जिसका आविष्कारक लेमिंग था। एडवर्ड जेनर द्वारा की गई वैक्सीन की खोज भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी। आइंस्टाइन को इन दोनों से कहीं अधिक ख्याति मिली। खूबसूरत-रोमांचक परीकथा जितनी लोकप्रियता पा चुके आपेक्षिकता के सिद्धांत के आगे विज्ञान के सारे आविष्कार आभाहीन होकर रह गए। मनुष्यता के लिए कल्याणकारी आविष्कारक और भी कई हुए, परंतु उनमें से एक भी आइंस्टाइन की ख्याति के आसपास न पहुंच सका।

अपनी बौद्धिकता और कल्पना की बहुआयामी उड़ान के बावजूद आपेक्षिकता का सिद्धांत इतना गूढ़ है कि उसे बाल साहित्य में सीधे ढालना आसान नहीं है। मगर आइंस्टाइन के शोध से उपजी एक विचित्र-सी कल्पना ने बाल साहित्य की समृद्धि का मानो दरवाज़ा ही खोल दिया। आइंस्टाइन ने सिद्ध किया था कि समय भी यात्रा का आनंद लेता है। उसका वेग भी अच्छा-ख़ासा यानी प्रकाश-वेग के बराबर होता है। अभी तक यह माना जा रहा था कि गुज़रा हुआ वक्त कभी वापस नहीं आता। आइंस्टाइन ने गणितीय आधार पर सिद्ध किया था कि समय को वापस भी दौड़ाया जा सकता है। यह प्रयोग-सिद्ध परिकल्पना थी, जो सुनने-सुनाने में परीकथाओं जितना आनंद देती थी। शायद उससे भी अधिक क्योंकि समय को यात्रा करते देखने या समय में यात्रा करने का रोमांच घिसी-पिटी परीकथाओं से कहीं बढ़कर था। इस परिकल्पना का एक और रोमांचक पहलू था, समय के सिकुड़ने का विचार। आइंस्टाइन के पूर्ववर्ती मानते थे कि समय स्थिर वेग से आगे बढ़ता है। सूक्ष्म गणनाओं के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि अति उच्च वेगों का असर समय पर भी पड़ता है। विशिष्ट परिस्थितियों में समय को भी लगाम लग जाती है। समय में यात्रा जैसी अविश्वसनीय परिकल्पना ने मनुष्य के लिए अंतरिक्ष के दरवाज़े खोल दिए। गणित की विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत इस परिकल्पना और तत्संबंधी प्रयोगों ने अनेक विश्वप्रसिद्ध

विज्ञानकथाओं को मसाला दिया, जिसको राइट-बंधुओं द्वारा आविष्कृत वायुयान से मज़बूत आधार मिला और अंतरिक्ष जो अभी तक महज़ कल्पना की वस्तु था, जहां उड़ान भरते पक्षियों को देख इंसान की आंखों में मुक्ताकाश के सपने तैरने लगते थे, वहां अब वह स्वयं आ-जा सकता था। अंतरिक्ष-यात्रा को लेकर उपन्यास-लेखन का सिलसिला तो आइंस्टाइन और राइट बंधुओं से पहले ही आरंभ हो चुका था। अब इन विषयों पर अधिक यथार्थवादी कौशल से लिख पाना संभव था।



सवाल है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक विज्ञान साहित्य ने जो दिशा पकड़ी, क्या वह साहित्यिक दृष्टि से भी समीचीन थी? इसमें कोई दो राय नहीं कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ में विज्ञान लेखन में तेजी आई। बाल साहित्य को अनेक सुंदर कृतियां इस दौर में प्राप्त हुईं। इन दिनों के लेखन की खूबी है कि इसमें एक ओर तो विज्ञान के मौलिक लेखन को बढ़ावा मिला। साहित्यकार एक ओर तो अपनी कल्पना के माध्यम से बाल साहित्य को मनोरंजक और ज्ञानवर्धक कृतियां उपलब्ध करा रहे थे, दूसरी ओर वाल्तेयर और रूसो की चेतावनी भी उन्हें याद थी। वे समाज को साथ-साथ सावधान भी कर रहे थे। विज्ञान साहित्य के साथ यह सावधानी और सजगता विज्ञान साहित्य के आरंभिक दौर से ही उसके साथ जुड़ चुकी थी। विज्ञान साहित्य की शुरुआत का श्रेय लेने वाली मेरी शैली से लेकर इसाक अमीसोव(रोबोट, 1950), आर्थर सी. क्लार्क (ए स्पेस ऑडिसी, 1968), राबर्ट हीलीन(रॉकेट शिप गैलीलिया, 1947, डबल स्टार, 1956 तथा स्ट्रेंजर इन ए स्ट्रेंज लेंड, 1961) सभी ने विज्ञान के दुरुपयोग की संभावनाओं को ध्यान में रखा। मेरी शैली ने अपनी औपन्यासिक कृति *फ्रेंकिंस्टीन* (1818) में दो मृत शरीरों की हड्डियों से बने एक प्राणी की कल्पना की थी। वह जीव प्रारंभ में भोला-भाला था। धीरे-धीरे उसमें नकारात्मक चरित्र उभरे और उसने अपने जन्मदाता वैज्ञानिक को ही खा लिया। उपन्यास विज्ञान के दुरुपयोग की संभावना से जन्मे डर को सामने लाता था।

हिंदी में आरंभिक 'विज्ञान-कथा' लेखन अंग्रेज़ी से प्रभावित था। औपनिवेशिक भारत में यह स्वाभाविक भी था। हिंदी की पहली विज्ञान-कथा अंबिकादत्त व्यास की 'आश्चर्य वृत्तांत' मानी जाती है, जो उन्हीं के समाचारपत्र *पीयूष प्रवाह* में धारावाहिक रूप में 1884 से 1888 के बीच प्रकाशित हुई थी। उसके बाद बाबू केशवप्रसाद सिंह की विज्ञान-कथा 'चंद्रलोक की यात्रा' *सरस्वती* के भाग 1, संख्या 6, सन 1900 में प्रकाशित हुई। संयोग है कि वे दोनों ही कहानियां जूल बर्न के उपन्यासों पर आधारित थीं। अंबिकादत्त व्यास ने अपनी कहानी के लिए मूल कथानक 'ए जर्नी टू सेंटर ऑफ दि अर्थ' से लिया था। केशवप्रसाद सिंह की कहानी भी बर्न के उपन्यास *फाइव वीक इन बैलून* से प्रभावित थी। इन कहानियों ने हिंदी के पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। उनमें विज्ञान-कथा पढ़ने की ललक बढ़ी। आरंभिक दौर में विज्ञान कथा श्रेणी में हिंदी में प्रकाशित ये कहानियां पाठकों द्वारा खूब सराही गईं। इन्होंने हिंदी पाठकों का परिचय नए साहित्यिक आस्वाद से कराया। जो कालांतर में हिंदी विज्ञान साहित्य के विकास का आधार बना। इसके बावजूद इन्हें हिंदी की मौलिक विज्ञान-कथा नहीं कहा जा सकता। इन रचनाओं में मौलिकता का अभाव था। यही स्थिति देर तक बनी रही। हिंदी में विज्ञान-साहित्य के अभाव का महत्त्वपूर्ण कारण बाल साहित्य के प्रति बड़े साहित्यकारों में अनपेक्षित उदासीनता भी थी। अधिकांश प्रतिष्ठित लेखक बाल साहित्य को दोयम दर्जे का मानते थे। यहां तक कि बाल साहित्यकार कहलवाने से भी वे बचते थे। एक अन्य कारण था लेखकों और पाठकों में वैज्ञानिक चेतना की कमी तथा जानकारी का अभाव। जो विद्वान विज्ञान में पारंगत थे, वे लेखकीय कौशल की कमी के चलते इस अभाव की पूर्ति करने में अक्षम थे।

हिंदी की प्रथम मौलिक विज्ञान-कथा का श्रेय सत्यदेव परिव्राजक की विज्ञान-कथा 'आश्चर्यजनक घंटी' को प्राप्त है। बाद के विज्ञान कथाकारों में दुर्गाप्रसाद खत्री, राहुल सांकृत्यायन, डॉ. संपूर्णानंद, आचार्य चतुरसेन, कृश्न चंदर, डॉ. ब्रजमोहन गुप्त, लाला श्रीनिवास दास, राजेश्वर प्रसाद सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस तरह हिंदी विज्ञान साहित्य का इतिहास कहानी साहित्य जितना ही पुराना है। हालांकि यह मानना पड़ेगा कि एक शताब्दी से ऊपर की इस विकास-यात्रा में हिंदी विज्ञान साहित्य का जितना विस्तार अपेक्षित था, उतना नहीं हो पाया। इसका एक कारण संभवतः यह भी हो सकता है कि हिंदी के अधिकांश साहित्यकार गैर-वैज्ञानिक शैक्षिक पृष्ठभूमि से आए थे। फिर उनके सामने चुनौतियां भी अनेक थीं। सबसे पहली चुनौती थी, विज्ञान कथा की स्पष्ट अवधारणा का अभाव। उस समय तक शिक्षा और साहित्य का प्रथम उद्देश्य था–बच्चों को भारतीय संस्कृति से परिचित कराना और उन्हें नैतिक शिक्षा देना। नैतिक शिक्षा को भी सीमित अर्थों में लिया जाता था। धार्मिक ग्रंथों, महापुरुषों के वक्तव्य तथा उनके जीवन चरित्र को नैतिक शिक्षा का प्रमुख स्रोत माना जाता है। धर्म के बगैर भी नैतिक शिक्षा दी जा सकती है, यह कोई मानने के लिए तैयार न था। बालकों के मौलिक सोच, तर्कशीलता एवं प्रश्नाकुलता को सिरे चढ़ाने वाले साहित्य का पूरी तरह अभाव था। विज्ञान के बारे में बालक पाठशाला में जो कुछ पढ़ता था, वह केवल उसके शिक्षा-सदन तक ही सीमित रहता था। घर-समाज में विज्ञान के उपयोग, परिवेश में उसकी व्याप्ति के बारे में समझानेवाला कोई न था। परिवार में बालक की हैसियत परावलंबी प्राणी के रूप में बनी थी। घर आकर यदि वह वैज्ञानिक प्रयोगों को दोहराना चाहे तो प्रोत्साहन की संभावना बहुत कम थी। संक्षेप में कहें तो विज्ञान और उसके साथ विज्ञान-लेखन की स्थिति पूरी तरह डांवाडोल थी। भारतीय समाज में वैज्ञानिक बोध के प्रति उदासीनता तब थी जबकि प्रथम वैज्ञानिक क्रांति को हुए चार शताब्दियां गुज़र चुकी थीं। आज़ादी के बाद हिंदी विज्ञान साहित्य की स्थिति में सुधार आया है तथापि मौलिक सोच और स्तरीय रचनाओं की आज भी कमी है।

एक प्रश्न दिमाग़ में हमेशा बना रहता है कि आख़िर वह कौन-सा गुण है, जो किसी रचना को विज्ञान कथा या वैज्ञानिक साहित्य का रूप देता है। विज्ञान गल्प के नाम पर हिंदी में बच्चों के लिए जो रचनाएं लिखी जाती हैं, वे कितनी वैज्ञानिक हैं? क्या सिर्फ उपग्रह, स्पेस शटल, अंतरिक्ष यात्रा या ऐसे ही किसी काल्पनिक अथवा वास्तविक ग्रह, उपग्रह के यात्रा-रोमांच को लेकर बुने गए कथानक को विज्ञान साहित्य माना जा सकता है? कई बार लगता है कि हिंदी के विज्ञान साहित्य लेखक विज्ञान और वैज्ञानिकता में अंतर नहीं

कर पाते। साहित्यकार के लिए गहरे विज्ञान-बोध की आवश्यकता होती है, विज्ञान का ज्ञान कामचलाऊ हो तब भी काम चल जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि संपन्न लेखक अपने परिवेश से ही ऐसे अनेक विषय खोज सकता है जो बालक के विज्ञान के प्रति रुचि तथा प्रश्नाकुलता को बढ़ाने में सहायक हों। तदनुसार विज्ञान साहित्य ऐसा साहित्य है जिससे किसी वैज्ञानिक सिद्धांत की पुष्टि होती हो, अथवा जो किसी वैज्ञानिक आविष्कार को लेकर तार्किक दृष्टिकोण से लिखा गया हो। उसमें या तो ज्ञात वैज्ञानिक सिद्धांत की विवेचना, उसके अनुप्रयोग की प्रामाणिक जानकारी हो अथवा आविष्कारों की परिकल्पना हो। विज्ञान के भविष्य में झांकते हुए किसी गल्प को सार्थक बनाने लिए आवश्यक है कि वैज्ञानिक शोधों की भरपूर जानकारी हो तथा उसकी कल्पनाशक्ति प्रखर हो ताकि वह उस वैज्ञानिक सिद्धांत जिसके आधार पर वह अपनी रचना को गढ़ना चाहता है, के विकास की संभावनाओं की कल्पना कर सके। यदि ऐसा नहीं है तो विज्ञान कथा कोरी फंतासी बनकर रह जाएगी। जो किसी मायावी परीकथा जितनी ही हानिकर सिद्ध हो सकती है। एक रचनाकार का यह भी दायित्व है कि वह प्रचलित वैज्ञानिक नियमों के पक्ष-विपक्ष को भली-भांति परखे। उनकी ओर संकेत करे।

निर्विवाद सत्य है कि समाज को रूढ़ियों, जादू-टोने, भूत-प्रेत आदि के मकड़जाल से बाहर रखने में पिछली कुछ शताब्दियों से विज्ञान की बहुत बड़ी भूमिका रही है। विज्ञान के कारण ही देश अनेक आपदाओं तथा जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न खाद्यान्न समस्याओं का सामना करने में सफल रहा है। अनेक महामारियों से समाज को बचाने का श्रेय भी विज्ञान को ही जाता है। 'श्वेत क्रांति', 'हरित क्रांति' जैसी अनेक उत्पादन क्रांतियां विज्ञान के दम पर ही संभव हो सकी हैं। मगर बीते वर्षों में संचार माध्यमों और बाज़ार ने विज्ञान को 'आधुनिकता का धर्म' की भांति समाज में प्रसारित किया है। लोगों को बताया जाता रहा है कि विज्ञान के विकास की दिशा स्वाभाविक है। जिन क्षेत्रों में उसका विस्तार हुआ है, वहीं होना भी चाहिए था जबकि ऐसा नहीं है।

बाज़ार के दम पर फलने-फूलने वाले समाचारपत्र-पत्रिकाएं निहित स्वार्थ के लिए मानव समाज को उपभोक्ता समाज में ढालने की कोशिश करते रहते हैं। वे व्यक्ति की सोच को भी अपने स्वार्थानुरूप अनुकूलित करते रहते हैं। पढ़े-लिखे युवाओं से लेकर साहित्यकार, बुद्धिजीवी तक उनकी बातों में आ जाते हैं। इससे विज्ञान पर अंकुश रखने, लोककल्याण के लक्ष्य के साथ उसके शोध क्षेत्रों के नियमन की बात कभी ध्यान में ही नहीं आ पाती। उदाहरण के लिए बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की तह में जाकर देख लीजिए। उसका विकास उन क्षेत्रों में कई गुना हुआ, जिससे पूंजीपतियों को लाभ कमाने का अवसर मिलता हो, उनका एकाधिकार पुष्ट होता हो। गांव में बोझा ढोने वाली मशीन हो या शहरी सड़कों पर दिखने वाला रिक्शा। उनमें प्रयुक्त तकनीक में पिछले पचास वर्षों में कोई बदलाव नहीं आया है जबकि कार, फ्रिज, मोटर साइकिल, टेलीविज़न, कंप्यूटर, मोबाइल जैसी उपभोक्ता वस्तुओं के हर साल दर्जनों नए माडल बाज़ार में उतार दिए जाते हैं। हालांकि यह कहना ज्यादती होगी कि ऐसा केवल साहित्यकारों के विज्ञान के प्रति अतिरेकी आग्रह अथवा उनके अनुप्रयोग की ओर से आंखें मूंद लेने के कारण हुआ है। मगर यह भी कटु सत्य है कि समाज-विज्ञानियों और साहित्यकर्मियों द्वारा विज्ञान के मनमाने व्यावसायिक अनुप्रयोग का जैसा रचनात्मक विरोध होना चाहिए था, वैसा नहीं हो पाया है। आरंभिक आविष्कार किसी-न-किसी तरह से इस विचारधारा की पुष्टि करते थे। विज्ञान साहित्य का अभीष्ट भी यही था कि वह मनुष्यता के कल्याणकारी अनुप्रयोगों की ओर बुद्धिजीवियों-वैज्ञानिकों का ध्यानाकर्षित करे तथा उनके समर्थन में खड़ा नज़र आए। लेकिन विज्ञान लेखन को फैशन की तरह लेने वाले लेखकों से इस मामले में चूक हुई। श्रद्धातिरेक में उन्होंने विज्ञान-लेखन को भी धर्म बना लिया। प्रौद्योगिकी प्रदत्त सुविधाओं के जोश में वे भूल गए कि विज्ञान को मर्यादित करने की आवश्यकता आज पहले से कहीं अधिक है। अपने लेखन को संपूर्ण मनुष्यता के लिए कल्याणकारी मानने वाले साहित्यकारों का क्या यह दायित्व नहीं कि वे ऐसा सपना देखें जिनमें विज्ञान और तकनीक के ज़रिए देश के उपेक्षित वर्गों के कल्याण के बारे में सोचा गया हो! लोगों को बताएं कि मात्र प्रयोगशाला में जांचा-परखा गया सत्य ही सत्य नहीं होता। 'अहिंसा परमो धर्म' परमकल्याणक सत्य का प्रतीक है। समाज में शांति-व्यवस्था बनाने रखने के लिए उसका अनुसरण अपरिहार्य है। हालांकि अन्य नैतिक सत्यों की भांति इसे भी किसी तर्क अथवा प्रयोगशाला द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। विज्ञान ऐसे विषयों पर भले विचार न कर पाए, मगर साहित्य अनुभूत सत्य को भी प्रयोगशाला में खरे उतरे विज्ञान जितनी अहमियत देता है। विज्ञान तथा उसके अनुप्रयोग को लेकर नैतिक दृष्टि साहित्य में होगी, तभी तो विज्ञान में आएगी। कोरी वैज्ञानिक दृष्टि आइंस्टाइन के सापेक्षिकता के सिद्धांत से परमाणु बम ही बनवा सकती है।

दुख की बात है कि विज्ञान सम्मत लिखने के फेर में कुछ साहित्यकार साहित्य के मर्म को ही भुला देते हैं। ऐसे में यदि उनका विज्ञान-बोध भी आधा-अधूरा हो तो विज्ञान कथा या गल्प की श्रेणी में लिखी गई रचना भी तंत्र-मंत्र और जादू-मंतर बेसिर-पैर की कल्पना बन जाती है। कुछ कथित विज्ञान-कथाओं में दिखाया जाता है कि नायक या प्रतिनायक के हाथों में ऐसा टार्च है जिससे नीली रोशनी निकलती है। वह रोशनी धातु की मोटी पर्त को भी पिघला देती है। 'नीली रोशनी' संबोधन 'पराबैंगनी तरंगों' की तर्ज़ पर गढ़ा गया है। वे अतिलघु तरंगदैर्ध्य की अदृश्य किरणें होती हैं, जिन्हें स्पेक्ट्रम पैमाने पर नीले अथवा बैंगनी रंग से निचली ओर दर्शाया जाता है। दृश्य बैंगनी प्रकाश की किरणों की तरंगदैर्ध्य से भी अतिलघु होने से उन्हें 'अल्ट्रावायलेट' कहा जाता है। इस तथ्य से अनजान हमारे विज्ञान-लेखक धड़ल्ले से 'नीली रोशनी' शब्द का प्रयोग भेदक किरणों के लिए करते हैं। मेरी दृष्टि में नीली किरणें फेंकने वाली टार्च और जादू के बटुए या जादुई छड़ी में उस समय तक कोई अंतर नहीं है, जब तक विज्ञान लेखक अपनी रचना में वर्णित वैज्ञानिक सत्य की ओर स्पष्ट संकेत नहीं करता। आप कहेंगे कि इससे रचना बोझिल हो जाएगा। पठनीयता बाधित होगी लेकिन ऐसा नहीं है। पठनीयता और विज्ञान की कसौटी दोनों का निर्वाह करना ही विज्ञान लेखक की सबसे बड़ी चुनौती होती है। इसलिए वैज्ञानिक कथाकार पूरी दुनिया में कम हुए हैं। साहित्यकार का काम वैज्ञानिक तथ्यों का सामान्यीकरण कर उनके और बालमन के बीच तालमेल बैठाना है। वह बालक को अपने आसपास की घटनाओं से जोड़ने की ज़िम्मेदारी निभाता है, ताकि उसकी जिज्ञासा बलवती हो। उसमें कुछ सीखने की ललक पैदा हो। विज्ञान ताकत का पर्याय न बन पाए इसलिए वह बार-बार इस तथ्य को समाज के बीच लाता है कि मनुष्यत्व की रक्षा संवेदना की सुरक्षा में है कि संवेदन-रहित फंतासी हमें निःसंवेद रोबोटों की दुनिया में ले जाएगी। साररूप में कहें तो साहित्य का काम विज्ञान को दिशा देना है, न कि उसको अपनी दृष्टि बनाकर उसके अनुशासन में स्वयं को ढाल लेना। साहित्य अपने-आप में संपूर्ण शब्द है। तर्कसम्मत होना उसका गुण है। किसी रचना में साहित्यत्व की मौजूदगी ही प्रमाण है कि उसमें पर्याप्त विज्ञानबोध है। ❑

संपर्क : जी-571, अभिधा, गोविंदपुरम, ग़ाज़ियाबाद–201013 (उ.प्र.)

बाल पहेली की निरक्षर कवयित्री

बनवारी लाल ऊमर वैश्य

कबीरदास निरक्षर थे। इन्होंने कभी भी लेखनी और मसिपात्र का प्रयोग नहीं किया था। जैसा वे कह चुके हैं– *मसि-कागज छूयो नहीं, कलम धरी नहीं हाथ*। कबीरदास निरक्षर होते हुए भी वेदांत तक बोल गए थे। निरक्षर कवियों की परंपरा में उत्तर प्रदेश के जनपद उन्नाव के रणबीर पुरवा में जन्मी खगनिया का भी नाम आता है। यह आज से चार सौ साल पहले की बात है। इनके पिता का नाम बासू था जो कोल्हू से तेल निकालते थे। खगनिया भी इस काम में पिता का हाथ बटाती थी।

पटिया आखिन मैं बंधवाए, कोल्हू माहिं वाहि चलावै
मौन रहे पै विपदा सहे, बासू केरि खगनिया कहै।

'इस पहेली का अर्थ बूझो, बच्चो 'तुम्हीं बता दो मेरी दीदी'। खगनिया ने कहा 'कोल्हू का बैल'। बच्चे भी उसे दुहरा जाते 'कोल्हू का बैल'। सांझ-सवेरे खगनिया के घर में पहेली का आनंद लेने के लिए बच्चों की भीड़ उमड़ती थी। पहेलियों से बच्चों में ज्ञान-विज्ञान का विकास होता था। उनकी काव्य प्रतिभा जागती थी।

खगनिया निरक्षर थी। उसे किताब पढ़ना-लिखना नहीं आता था किंतु वह तेज़ बुद्धि की लड़की थी। बागों में घूमती और तितलियों को पकड़ती। बच्चों के साथ पेड़ों पर चढ़ जाती थी। उसे पहेलियों की रचना में महारत हासिल थी। उसके समय में लाल-बुझक्कड़ की पहेली चर्चित थी किंतु खगनिया की पहेलियां बच्चों के मन को छू जाती थीं। पश्चिमी गांवों में अमीर खुसरो की पहेली कही-सुनी जाती थी। एक दिन खगनिया अपनी सहेलियों के संग बगीचे में गई। वहां उसने देखा कि काले भौंरे फूल पर बैठकर रस चूस रहे हैं और गुंजार करते हुए मंडरा रहे हैं। खगनिया ने उस पर तुरंत यह पहेली रच ली–

रहत पीतांबर बाके कांधे, गूंज पुहुपन पै मन साधे
कारा है पै इसके गहे, बासू केरि खगनिया कहें।

इसे सुनते ही सारी सहेलियां पहेली बुझ गईं और बोलीं–'भौंरा'।

एक बार गांव में ब्राह्मणभोज हो रहा था। रसोईघर में कचौड़ी छन रही थी। लोग पेट भर-भरकर खा रहे थे और आनंदित हो रहे थे। पुरवाई बह रही थी। इस दृश्य को देखकर खगनिया ने कचौड़ी पर एक पहेली तुरंत कह डाली–

बाभन खाय पेटवा फार, लाली है रंगत, बहि बयार
मेरे नहीं दूर मा रहे, बासू केरि खगनिया कहें।

बाल पहेली की वह निरक्षर कवयित्री बच्चों के मन बहलाने के लिए ज्ञानवर्द्धक पहेलियां लिखती रही। बच्चों में कविता लिखने की इच्छा शक्ति जाग रही थी। खगनिया बच्चों की चहेती बन गई थी। वह नई-नई पहेलियां सुना-सुनाकर बच्चों का मनोरंजन करती थी। उस समय विद्यार्थी कलम-दवात से लिखते थे। खगनिया ने दवात पर भी एक पहेली लिखी–

भीतर गूदर ऊपर नागि, पानी पिए परारा मांगी
तिहि की लिखी करीर रहे, बासू केरि खगनिया कहे।

खगनिया अपने पिता से बेहद प्यार करती थी यह उसकी पहेली बता देती है। वह पहले अपने पिता का नाम और बाद में अपना नाम लिखती थी। कन्नौज, कानपुर, फ़रुखाबाद इत्यादि गांवों में बाल पहेली की इस निरक्षर कवयित्री का नाम बच्चे-बच्चे के जबान पर रहता है। घाघ, भड्डरी आदि गंवई कवियों की श्रेणी में खगनिया का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। ❑

संपर्क : इंक़ीनगंज, मीरज़ापुर-231001

सड़क पर बचपन

सुजाता वीरेश

पहली बारिश में अपने तन को भिगोता बचपन
बोझ हंस-हंस के ज़िंदगी का यूं ढोता बचपन।

कहीं खाना परोसता, कहीं बर्तन धोता
कहीं सड़कों पे, पटरियों पे यूं अधनंग सोता।

खेल की उम्र में बचपन को भी खोता बचपन
बोझ हंस-हंस के ज़िंदगी का यूं ढोता बचपन।

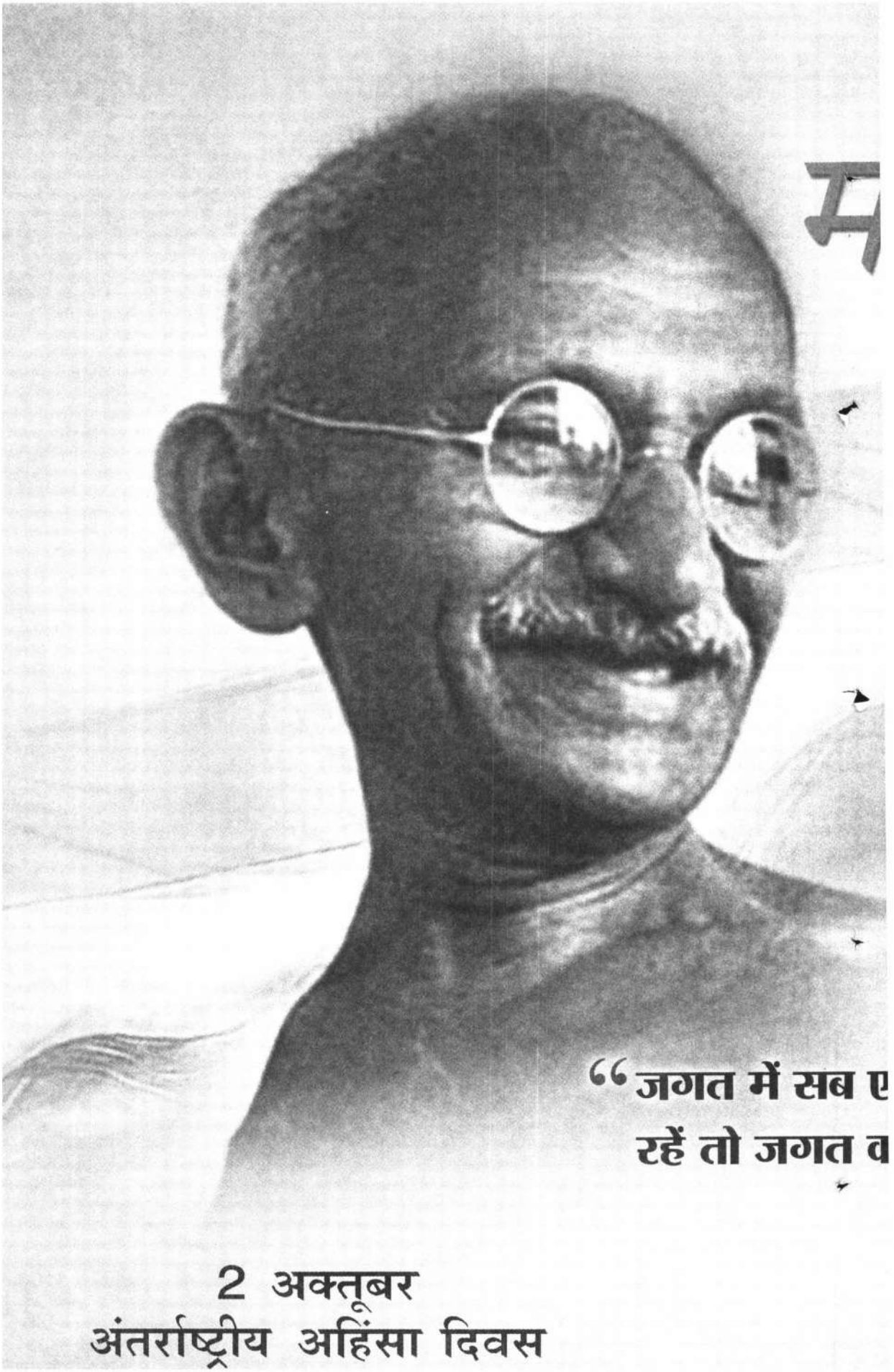
आग में जलते हैं और पानी में बह जाते हैं
आए भूचाल तो घर पक्के भी ढह जाते हैं।

दूर इस सोच से हो, चैन से सोता बचपन
बोझ हंस-हंस के ज़िंदगी का यूं ढोता बचपन।

चाहे अच्छी कहो या चाहे कहो पगली है
गर्व है बस यही वो मेरी मां की उंगली है

उसकी उंगली जो छूट जाए तो रोता बचपन
बोझ हंस-हंस के ज़िंदगी का यूं ढोता बचपन।

संपर्क : रा. कन्या इंटर कालेज, करहल, मैनपुरी (उ.प्र.)



2 अक्तूबर
अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस



दूसरे से मित्र भाव से
रूप बदल जाये।"

सत्यमेव जयते

सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

davp 22201/13/0021/1213

AH-169/2012

दो कविताएं : **प्रकाश मनु**

एक प्रतियोगिता में शामिल नन्ही प्रतिभाओं के लिए

हज़ारों-हज़ार पन्नों के बीच घिरा
एक बूढ़ा शख्स
उन हज़ारों-हज़ार पन्नों की कुछ सीधी, कुछ टेढ़ी सतरों
और आड़े-तिरछे अक्षरों के बीच
टटोल रहा था कुछ भोले-भाले मासूम चेहरे
कुछ बेचैनियां, कुछ सवालों के जवाब
जो कभी मिलते कभी खो जाते थे।
पर चेहरे कुछ बहुत मासूम
बार-बार उन शब्दों के बीच से उठकर खड़े हो जाते थे...
कि सर जी, मैं हूं यहां, आपने देखा नहीं मुझे।
कि अंकल, मैंने लिखे हैं चार पाइंट बहुत कमाल के
बहुत माथापच्ची के बाद।

कक्षा छह में पढ़ने वाली एक नन्ही अबोध बच्ची कह रही थी,
देखिए अंकल, मेरी राइटिंग ज़रा ख़राब है
पर आप पूरा मेरा लेख पढ़ना ध्यान से
मैंने पूछा नहीं किसी से...
सब कुछ लिखा है अपने-आप से सोच-सोचकर!

सतरें थीं, हज़ारोंहज़ार सतरें...
और तमाम चेहरे चंचल उत्साह जोश और कुतूहल से भरे,
और एक बूढ़ा आदमी जो शायद एक बूढ़ा मछुआरा
कि बूढ़ा मल्लाह था
और बच्चे जिसे अच्छे लगते थे,
उनके बीच बच्चा बनकर खुश था।

और आज जबकि इनाम दिए जाने हैं, बांटे जाने हैं मैडल
एकदम मंच पर
वे चेहरे हैं मेरे सामने
उतने ही जोश और चंचल उत्साह से भरे ताज़ा चेहरे
खिले गुलाबों से
मैं उन्हें देखता हूं और सोचता हूं
फिर देखता और फिर-फिर सोचता हूं
कि किस चेहरे से किस आड़ी-तिरछी लकीरों वाली कॉपी
का रिश्ता है
और वह छोटी-सी चंचल बच्ची कौन-सी थी
जिसने अपनी कापी में विचारों के साथ
बना दिए थे अपनी इच्छाओं के सुंदर, सतरंगे डिज़ाइन।
और कौन-सा था वह अलबेला कलाकार जिसने कॉपी में
अलहदा-अलहदा रंगों में विचार दर्ज करते हुए
धरती पर पूरा इंद्रधनुष उतार दिया था...?

यों हज़ारोंहज़ार पन्नों के साथ लिखने और बात कहने की
हज़ारों रंगारंग अदाओं को
दो बांहों में सहेजता यह बूढ़ा शख्स मुग्ध और चकित-सा
देख रहा है अपने सामने
नन्हे-नन्हे हाथों से तिराई जातीं हज़ारों नन्ही किश्तियां।

इनमें हर किश्ती एक उम्मीद है
क्योंकि उस पर हाथ में एक नन्हा-सा चप्पू
और नन्ही कलम लिए एक नन्हा बच्चा बैठा है
हर हाथ एक परचम उठाए
कि सुनिए, पानी की एक-एक बूंद कीमती है
हमें उसे आने वाली पीढ़ियों के लिए बचाना है
कि इस मुल्क में भूजल की बर्बादी न हो
वरना बजने लगेंगी ख़तरे की घंटियां...
फिर हमारी प्यारी धरती का क्या होगा, क्या होगा दुनिया का
बोल रहे थे नन्हे पहरेदार वतन के।

और खुश है वह बूढ़ा मल्लाह
कि नन्ही-नन्ही किश्तियां चल पड़ी हैं
उस सदाबहार टापू की खोज में
जहां से नई खुशियां लौटेंगी हिंदुस्तान में
और बनेगी हरी-भरी उम्मीदों की दुनिया

वह बूढ़ा मल्लाह यह देखता है
अपनी लगातार धुंधलाती
घुच्ची आंखों से...
और नन्हे हाथों में परचम उठाए
नन्ही-नन्ही किश्तियां खेते नन्हे मल्लाहों को सलाम करता है।

फूलों की घाटी में एक बच्चा

(एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में नाचते हुए बच्चों को देखकर)

सिर पर सुनहले फूलों का ताज
रंगारंग फूलों का गुलदस्ता लिए हाथ में
आता है बच्चा

बच्चा हाथ पकड़कर ले जाता है मुझे
वहां
जहां इस धूसर दुनिया के भीतर
रंगों में खिलखिलाती एक और दुनिया है।

यहां साफ़ पानियों के तालाब हैं खूबसूरत और लहरें
और कमल और सीपियां और मछलियां
यहां रंगों के भीतर रंग हैं
परतों के भीतर और-और परतें खुलती हुई
यहां हवाएं इठलाती, दरख़्त झूमते
तितलियां नाचती
और फूल खिलखिलाते हैं एक अजानी लय में

खिलखिलाता है
बरसों से दबा मुरझाया मन यहां
पुलक-पुलक कर
मुसकराते हैं सितार पर नग़्मे!

यहां बच्चा एक रूप छोड़कर एक और रूप लेता है
फिर एक और रूप
हर बार कुछ नया, कुछ और-और नया

लहरें लहरों में मिलती हैं
कुछ और हो जाती हैं
हर बार रंगों की झलमलाहट और लय और नाद
कुछ ऐसे
कि जैसे दूर से ही शोर मचाता आता है वसंत।

अब ताल नदिया में है नदिया समुद्र में
बच्चा तैर रहा है नदी में, नदी में समुद्र
और लो,
बच्चा समुद्र में है...
रंगों के समुद्र में गोते खा रहा है
और मुसकरा रहा है

और मैं हैरान
कि सितारों से भी अधिक चमकीली
हो चली है उसकी मुसकान
सुगंध से भी महीन उसकी काया
फूल से भी कोमल
उसका स्पर्श उसकी पहचान...

बच्चे के होठों से
किरणीली मुसकानें फूटती हैं
फूटते हैं नई सदी के गाने
उसके गीतों में अजब-सी तुतलाहट है
और कभी न जाने वाले वसंत की नरमी, वसंत की दस्तक
अजब-सा आनंद है उसके गीतों में
जिसमें सारी की सारी दुनिया, सारी कायनात
एक नए ढंग से खुलती है

और मैं देख रहा हूं
पत्थर के बीच पत्थर को फोड़ता
अभी-अभी उगा है एक हरा पौधा
नहीं, तिनका हवाओं में थरथराता...
वह मैं हूं!

और मैं फूलों की घाटियों में उछाल दिया जाता हूं
नृत्यरत खुशबुओं के बीच
जहां नामों और पहचानों से अलग एक दुनिया है
जहां मुझे खुद को नए सिरे से ढूंढना है।

संपर्क : 545, सेक्टर-29, फ़रीदाबाद-121008 (हरियाणा)

बाल-पत्रिकाओं का अभाव

प्रांजल धर

जीवन-निर्माण के महत्वपूर्ण काम में साहित्य ने सदैव अपना उत्कृष्ट योगदान दिया है। अच्छे जीवन-मूल्यों से संपन्न नागरिक ही अच्छे समाज और सभ्यता की रचना कर सकते हैं। जीवन-मूल्यों के निर्माण और मानवता में इन बुनियादी मूल्यों के संचार के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों में इन जीवन मूल्यों का संचार बेहद संवेदनापूर्ण तरीके से किया जाए क्योंकि आज के बच्चे ही कल का भविष्य निर्धारित करते हैं। आज जब अंतर्राष्ट्रीय पटल पर भारत एक वैश्विक शक्ति के रूप में तेज़ी से उभर रहा है तब यह सवाल बेहद महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो जाता है कि हम अपने बच्चों के लिए कैसा और कितना साहित्य प्रस्तुत कर रहे हैं ? हिंदी और साहित्य पर तो आए दिन विमर्श होते रहते हैं और गोष्ठियां भी आयोजित की जाती हैं लेकिन क्या हिंदी के बाल-साहित्य और हिंदी की बाल-पत्रिकाओं पर भी कोई फलदायी विमर्श होता है? जो पत्रिकाएं समाज में साहित्यिक मूल्यों की शक्तिशाली वाहक कही जाती हैं, क्या उन्होंने बालकों के मनोविज्ञान पर ईमानदारी से कभी ध्यान केंद्रित किया है? यह ठीक है कि कभी-कभी *चंपक* और *नंदन* जैसी पत्रिकाएं बाज़ार में दिख जाती हैं लेकिन क्या वे बालकों के सुरुचिपूर्ण मनोरंजन के लिहाज़ से पर्याप्त हैं ? इसे एक विडंबना ही कहा जाना चाहिए कि हमारे देश में बालक-बालिकाओं को समर्पित हिंदी का एक मुकम्मल अख़बार तक मौजूद नहीं है। दक्षिण अफ्रीका में हाल ही में संपन्न विश्व हिंदी सम्मेलन के आलोक में ये चिंताएं और अधिक जरूरी हो जाती हैं।

> *हिंदी में बाल साहित्य का जो अभाव आज दिखता है, उसके कई कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह है कि हिंदी के बड़े-बड़े आलोचकों ने कभी इस मुद्दे को गंभीरता से नहीं लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाल साहित्य का कोई स्वतंत्र स्वरूप ही नहीं निर्मित हो पाया। अगर कभी हिंदी साहित्य के इतिहास की चर्चा हुई भी, तो उसमें बाल साहित्य और बाल-पत्रिकाओं को कोई स्थान ही नहीं दिया गया। इस अभाव का दूसरा और अधिक गंभीर कारण यह है कि आज पहले जैसी बाल-पत्रिकाएं न के बराबर प्रकाशित हो रही हैं।*

हिंदी के बाल-साहित्य में एक दौर ऐसा भी आया था जब बच्चे *नंदन* और *पराग* जैसी पत्रिकाओं में छपी कहानियों को पढ़कर जीवन का उल्लास और प्रेरणा हासिल करते थे। आज भले ही यह कहा जाता हो कि आज के बच्चे यथार्थ में जीने लगे हैं इसलिए उन्हें यथार्थवादी रचनाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिए। टेलीविज़न और कंप्यूटरों से प्राप्त चुनौतियों के मद्देनज़र ऐसे तमाम तर्क दिए जाते हैं कि आज के बच्चे बहुत समझदार हो गए हैं, वे कंप्यूटर पर फ़न-गेम्स के ज़रिए इतने तार्किक हो चले हैं कि उन्हें मुक्तित माध्यमों की अंतर्वस्तु उतनी प्रभावित नहीं कर पाती, जितनी 'य-श्रव्य माध्यमों की। लेकिन अगर हम ग़ौर से देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि छपे हुए शब्द और मुक्तित चित्र संचार के सबसे मज़बूत और दीर्घकालिक असर वाले माध्यम हैं। बच्चों की कल्पनाशीलता को बढ़ाने में बाल-पत्रिकाओं की महती भूमिका होती है। इसीलिए इन पत्रिकाओं ने समय-समय पर परी कथाओं और राजा-रानियों की काल्पनिक कहानियों के ज़रिए बच्चों का स्वस्थ मनोरंजन किया है। ऐसा मनोरंजन जो शिक्षाप्रद होने के साथ-साथ रोचक भी हो। *नंदन* पत्रिका के संपादक जयप्रकाश भारती ने परीकथाओं पर सबसे ज्यादा विशेषांक निकाले थे। उनका मत था कि हमें आधुनिकता के नाम पर देवी-देवताओं, लोककथाओं या राजा-रानियों की कहानियों को बाल-साहित्य से बाहर हर्गिज़ नहीं निकालना चाहिए। वहीं दूसरी तरफ़ *पराग* के संपादक आनंद प्रकाश जैन ने मासिक पत्रिका *शृंगार* के सन् 1962 के एक अंक में लिखा था कि जादूगरों की कहानियां अब बच्चों के साहित्य में स्थान पाने लायक नहीं रह गई हैं क्योंकि अब कहीं जादू नहीं चलता। आज के जटिल जीवन के तरीकों से भी हमें बच्चों को किसी-न-किसी तरह परिचित कराना ही होगा। विज्ञान के अनेक सिद्धांतों से परिचित कराने के लिए उनके पाठ्यक्रम की किताबें ही पर्याप्त नहीं होतीं, बल्कि विदेशी बच्चों की तरह विज्ञान-कथाओं से भी उनके मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करना होगा।

हिंदी में बाल-साहित्य का जो अभाव आज दिखता है, उसके कई कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह है कि हिंदी के बड़े-बड़े आलोचकों ने कभी इस मुद्दे को गंभीरता से नहीं लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाल-साहित्य का कोई स्वतंत्र स्वरूप ही नहीं निर्मित हो पाया। अगर कभी हिंदी साहित्य के इतिहास की चर्चा हुई भी, तो उसमें बाल-साहित्य और बाल-पत्रिकाओं को कोई स्थान ही नहीं दिया गया। इस अभाव का दूसरा और अधिक गंभीर कारण यह है कि आज पहले जैसी बाल-पत्रिकाएं न के बराबर प्रकाशित हो रही हैं। पिछली शताब्दी के दूसरे दशक में प्रकाशित *शिशु* और *बालसखा* जैसी बाल-पत्रिकाओं ने बाल-साहित्य के स्वतंत्र और स्वायत्त स्वरूप की स्थापना में विशेष भूमिका निभाई थी। देखा जाए तो हिंदी साहित्य के विकास में जो भूमिका *सरस्वती* पत्रिका ने निभाई है, हिंदी बाल-पत्रकारिता के लिए वही भूमिका *बालसखा* (1917) ने निभाई। हमारे देश की आज़ादी के पहले प्रकाशित होने वाली सभी बाल-पत्रिकाओं में *बालसखा* ही ऐसी एकमात्र पत्रिका है जिसने आधी शताब्दी से भी अधिक समय तक यानी लगभग तिरपन सालों तक अपने प्रकाशन का क्रम जारी रखा। इस पत्रिका के पहले संपादक पंडित बदरीनाथ भट्ट ने इसके प्रवेशांक में लिखे गए संपादकीय में प्रशंसनीय घोषणा की थी, *बालसखा* के निकाले जाने का उद्देश्य है–"बालक-बालिकाओं में रुचि आना, उनमें उच्च भावनाओं को भरना और उनमें से दुर्गुणों को निकालकर बाहर करना, उनका जीवन सुखमय बनाना और उनमें हर तरह का सुधार करना।"

लल्ली प्रसाद पाण्डेय, कामता प्रसाद गुरु, सोहन लाल द्विवेदी, देवीदत्त

शुक्ल (जिनका उपनाम गिरीश था) और ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने इसका संपादन किया। बच्चे जब नई-नई चीज़ों को देखते हैं या उनके बारे में पढ़ते हैं तो उनके मन में जिज्ञासा का भाव विकसित होता है। शायद इसीलिए लल्ली प्रसाद पाण्डेय ने बाल-साहित्यकारों को साफ़-साफ़ चुनौती देते हुए कहा था कि वे बाल-साहित्य में नएपन को वरीयता दें। तो क्या वर्तमान समय में यह मान लिया जाना चाहिए कि नएपन को खोजा जाना बंद हो चुका है? या फिर आज के समस्त संचार माध्यम इसलिए इस मामले से अपना हाथ खींच रहे हैं क्योंकि इसमें मुनाफे का गणित उतना फलदायी नहीं है जितना होना चाहिए? एक अंग्रेज विद्वान ने एक बार कहा था कि पूरी दुनिया में बच्चों पर इसलिए ध्यान नहीं दिया जाता और उनसे जुड़े विषय इसलिए प्रमुखता प्राप्त नहीं कर पाते क्योंकि बच्चों के पास मतदान करने का अधिकार नहीं होता। अगर उन्हें मतदान का अधिकार दिया जाता तो शायद उनके भी महत्व को रेखांकित किया जाता क्योंकि तब नीति-निर्माण में उनकी सक्रिय भागीदारी होती। फिलहाल यह भागीदारी सिर्फ यहीं तक सीमित है कि बच्चों के अभिभावक ही उनकी तरफ से सोचते और विचारते हैं। बाल-पत्रिकाएं अपने परिवेश के प्रति बालकों को जागरूक भी बनाती हैं। यहां इसका एक शानदार उदाहरण दिया जा सकता है। 1933 के आसपास जब असहयोग आंदोलन ज़ोरों पर था और समाज अनेक प्रकार की विसंगतियों से जूझ रहा था, तब गुलामी की बेड़ियों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद करते हुए *वानर* नामक मासिक बाल-पत्रिका के संपादक आनंद कुमार ने अनेक रूढ़िवादी और पश्चिगामी विचारों का खुलकर विरोध किया था। इसी प्रकार *कुमार* के संपादक कुंवर सुरेश सिंह ने अवैज्ञानिक और अप्रामाणिक साहित्य का विरोध करते हुए लिखा था कि हमारे युग में जहां एक ओर मानव-सभ्यता के लिए हितकर विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हो रहा है, वहीं दूसरी ओर अनेक प्रतिक्रियात्मक और भ्रम में डालने वाले सिद्धांतों का भी प्रचार बढ़ रहा है। जाहिर है कि 1940 के लगभग यह बात बालकों के विशेष संदर्भ में लिखी गई थी जो उस समय की बाल-पत्रिकाओं की कटिबद्धता का ज्वलंत प्रमाण पेश करती है।

पराग एक ऐसी पत्रिका रही है जिसका हर एक वाक्य अपने-आप में अनोखा होता था। इसके वाक्य छोटे-छोटे होते थे। वाक्यों की बनावट और बुनावट ऐसी होती थी जिन्हें एक नज़र में देखकर यह जाना जा सकता था कि यह *पराग* का वाक्य है। *पराग* ने पिछली सदी के साठ के दशक में एक किशोर कथा प्रतियोगिता का आयोजन कराया था। आज *पराग* जैसी कोई पत्रिका नहीं निकल रही है जो आधुनिक जीवन के वैचारिक धरातल पर रची गई बेहतरीन कहानियां रचकर उन्हें बच्चों तक पहुंचाने का गौरव हासिल कर सके। हर पत्रिका के सामने एक चुनौती होती है जिससे उसे पार पाना होता है और अपने लक्षित समूह को वांछित रस और आस्वाद से सराबोर करना होता है। *पराग* के सामने भी यह समस्या आई थी क्योंकि ज्यादातर लोककथाएं घिस-पिट चुकी थीं और परीकथाओं में जिस प्रकार का रोमांच रचा जाता था, उससे बच्चों का रोमांचित होना खत्म हो चुका था। *पराग* के समक्ष यह बहुत बड़ी चुनौती थी कि वह किस तरह बालक-बालिकाओं को लुभाने वाली किसी नवीन शैली की प्रस्थापना करे क्योंकि पल-पल बदलने वाली और हर वाक्य में नाटकीयता का समावेश करके बच्चों में कुतूहल पैदा करने वाली भाषिक शैली अब पुरानी पड़ चुकी थी। इस पत्रिका ने न सिर्फ इस चुनौती का समाधान करने में कामयाबी पाई बल्कि बाल-साहित्य जगत को नए-नए बाल-कहानीकार भी दिए। इसी प्रकार आज वयस्कों और बुजुर्गों की पत्रिकाएं तो अपने विशेषांक प्रकाशित करती हैं लेकिन शायद ही कोई बाल-पत्रिका हो जो किसी तरह का उल्लेखनीय विशेषांक निकालती हो जबकि आज़ादी के पहले *बालसखा* के तीन सौ पृष्ठों तक के विशेषांक हर साल निकलते थे। ये विशेषांक नव वर्ष के अवसर पर प्रकाशित होते थे। बाल-पत्रिकाओं के ये विशेषांक यात्रा वर्णनों, रोचक निबंधों और चुटकुलों समेत लगभग हर महत्वपूर्ण विधा में रोचक सामग्रियां पेश करते थे। नब्बे के दशक के मध्य में *बालहंस* ने भी कई ऐसे चुटकुले प्रस्तुत किए जिनसे बच्चों को हंसी भी आती थी और वे किसी गंभीर बात पर सोचने को मजबूर भी हो जाते थे। *बालहंस* ने समय-समय पर नाटकों पर केंद्रित विशेषांक निकाले और इस विधा को बढ़ावा भी दिया।

बाल-पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रचार-प्रसार में ग़ैर-सरकारी संस्थानों के साथ-साथ सरकार की भी बड़ी निर्णायक भूमिका हो सकती है। भारत सरकार का प्रकाशन विभाग बच्चों के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखते हुए अनेक पुस्तकें व पत्रिकाएं प्रकाशित करता है। बच्चों की लोकप्रिय हिंदी मासिक पत्रिका *बाल भारती* का प्रकाशन 1948 से नियमित रूप से किया जा रहा है। इसका लक्ष्य लघु कथाओं, कविताओं तथा जानकारी से भरपूर लेखों के माध्यम से बच्चों का स्वस्थ मनोरंजन करने के साथ-साथ उन्हें शिक्षित करना और उनमें मानव-मूल्यों तथा वैज्ञानिक प्रवृत्ति का संचार करना है। बाल-साहित्य की पत्रिकाओं का सचित्र होना अनिवार्य है। अगर वे सचित्र या कार्टूनों से युक्त नहीं होंगी तो बच्चे उनके प्रति आकर्षित नहीं होंगे। इसलिए बाल-पत्रिकाओं को सचित्र एवं सुसज्जित तरीके से प्रस्तुत करने की दिशा में चित्रकारों और कार्टूनिस्टों की महती भूमिका है। नए संचार माध्यमों और हैरी पाटर जैसी चीजों का वर्चस्व आज लगातार बढ़ता जा रहा है। बच्चे भी इससे अछूते नहीं हैं। देखा जाए तो दूरदर्शन और आकाशवाणी के प्रति, विशेषकर दूरदर्शन के प्रति, वे अधिक आकृष्ट होते हैं। उनके माध्यम से बाल कहानियों, बाल नाटकों, बाल फिल्मों आदि के प्रसारण की नियमित व्यवस्था की जानी चाहिए और जो बालसुलभ संवेदनाएं प्रसारण के लिए सुविधाजनक न प्रतीत होती हों, उन्हें बाल-पत्रिकाओं के माध्यम से सुलझाया जाना चाहिए। बच्चों में पढ़ने के प्रति बहुत अधिक अभिरुचि पाई जाती है। उन्हें मनपसंद पाठ्य सामग्री मिले तो वे उसके साथ घंटों जुड़े रह सकते हैं। सारे कामों को भूलकर वे मनोरंजक कथा-कहानियों को पढ़ने में इस तरह जुटते हैं कि खाना-पीना तक भूल जाते हैं। पत्रिकाओं में तो एक गुण यह भी होता है कि वे आवर्ती समयांतराल के पश्चात पुनः अगले अंक के रूप में प्रकट हो जाया करती हैं और बच्चों को यह नयापन बहुत भाता है। बाल पाठकों की समस्या का समाधान बाल साहित्यकार, शिक्षक, अभिभावक और प्रकाशक आदि मिलकर कर सकते हैं। वे उन्हें स्वस्थ, सुरुचिपूर्ण और श्रेष्ठ बाल-पत्रिकाएं उपलब्ध कराने में सहायता दे सकते हैं।

बाल-साहित्य की सर्जना के लिए साहित्यकारों के सामने कई चुनौतियां उभरती हैं। इसमें बच्चों की कोमल भावनाओं, रुचियों और रचनात्मक कल्पनाशीलता आदि को दृष्टिगत रखना होता है। ऐसे साहित्य का एक निश्चित और सकारात्मक उद्देश्य होता है। यहां मात्र मनोरंजन ही नहीं, बल्कि बच्चों का समुचित ज्ञानार्जन भी अपेक्षित होता है। स्पष्ट है कि ऐसे सोद्देश्यमूलक बाल-साहित्य की संरचना उतनी सरल नहीं है, जितनी दिखती है। सीधी रेखा खींचना सबसे कठिन होता है। सरल भाषा में गंभीर विचारों को व्यक्त करना बेहद चुनौतीपूर्ण कार्य है। बाल-साहित्य का सृजन वही साहित्यकार कर सकता है जो अपनी विद्वता, अनुभव की गहनता, लेखन की दक्षता को

पृष्ठ 41 पर जारी

यह कैसी पढ़ाई?

संजीव ठाकुर

घर का कंप्यूटर ख़राब चल रहा था। ठीक करवाने का समय नहीं मिल पा रहा था। ऐसे में एक दिन बेटी ने कहा–"पापा! मैम ने एक प्रोजेक्ट दिया है। ऑस्ट्रेलिया पर इंफ़ारमेशन क्लैक्ट करनी है। मंडे तक जमा करना है।" वह शुक्रवार की रात थी, मैं चिंतित हो गया। शनिवार को उस व्यक्ति को फ़ोन किया जो हमारा कंप्यूटर ठीक किया करता था। वह शनिवार के बदले रविवार को आया। कंप्यूटर ठीक हो गया लेकिन प्रिंटर ठीक नहीं हुआ। तब मैंने ऑस्ट्रेलिया के बारे में जानकारी और फोटो निकालकर पेनड्राइव में लिया और बड़ी मुश्किल से एक साइबर कैफ़े से उसका प्रिंट निकालकर लाया। रात के ग्यारह बजे तक बेटी जानकारियों को अपनी कॉपी में उतारती रही, फोटो काटकर चिपकाती रही। मैं झल्लाता रहा और पब्लिक स्कूलों की इस शिक्षा पद्धति को कोसता रहा। आख़िर यह कैसी पढ़ाई है? पढ़ाने का जो काम शिक्षक किया करते थे, वह इंटरनेट के हवाले क्यों किया जा रहा है? और क्या इंटरनेट से मैटर निकालकर कॉपी में उतार लेने से बच्चे कुछ सीख जाते हैं? दसवीं-बारहवीं के बच्चे नेट से सामग्री ढूंढने और उससे प्रोजेक्ट बनाने के क्रम में कुछ-कुछ भले ही सीख जाएं, पहली-दूसरी-पांचवीं के बच्चे क्या सीख सकते हैं? उन्हें तो यही पता नहीं चल पाता कि इंटरनेट पर उपलब्ध अथाह सामग्री में से उन्हें क्या लेना है, क्या नहीं? उनके इस सामग्री-संचयन में उनके माता-पिता को मग़ज़मारी करनी पड़ती है जबकि यह भी ज़रूरी नहीं कि प्रत्येक माता-पिता को सभी विषयों की जानकारी हो, साथ-साथ कंप्यूटर और इंटरनेट की भी जानकारी हो। तो क्या, उन बच्चों को पब्लिक स्कूलों में पढ़ने का कोई अधिकार नहीं है जिनके माता-पिता 'सर्वज्ञ' नहीं हैं? और कंप्यूटर-इंटरनेट रखने की सामर्थ्य नहीं रखते हैं? आज मध्यवर्गीय घरों में कंप्यूटर-इंटरनेट का होना अगर 'आवश्यक-आवश्यकता' की श्रेणी में आ गया है तो इसका कारण यही है कि उनके बच्चों के लिए यह ज़रूरी हो गया है–पहली कक्षा के बच्चों के लिए भी ज़रूरी हो गया है। इसके बिना हर दूसरे दिन स्कूलों से मिलने वाले प्रोजेक्ट वर्क को पूरा करना संभव ही नहीं है। प्रोजेक्ट का सवाल बच्चों के ग्रेड से भी जुड़ा होता है इसलिए माता-पिता कंप्यूटर ख़रीदने को मजबूर हो जाते हैं, इंटरनेट लगाना उनके लिए ज़रूरी हो जाता है।

यह सच है कि आज के ज़माने में बच्चों को भी कंप्यूटर और इंटरनेट की जानकारी होनी चाहिए। लेकिन सवाल यह है कि क्या कंप्यूटर और इंटरनेट की अंधी दौड़ में स्कूल के शिक्षक अपने कर्त्तव्य से भटक नहीं रहे हैं? अपने ज्ञान से उनका भरोसा नहीं उठ गया है? क्या किसी भी जानकारी को रुचिकर ढंग से बच्चों को देने के बदले इंटरनेट के संजाल में भटकने को छोड़कर बच्चों में उस विषय के प्रति अरुचि पैदा करने का काम वे नहीं करने लगे हैं? और क्या वे सचमुच नहीं समझते कि मात्र प्रोजेक्ट पूरा करने के लिए इंटरनेट से जैसे-तैसे और जैसी-तैसी सामग्री का संचयन बच्चों में ऊब पैदा करने के साथ-साथ उनकी मौलिकता को नष्ट करने का काम कर सकते हैं? क्या यहां भी बच्चों को जबरन कंप्यूटर और इंटरनेट सिखाने की कोशिशें नहीं की जातीं? किसी भी चीज़ को जबरन सिखाने के जो नतीजे आते हैं वह यहां भी आ सकते हैं–इस बात पर सोचने की ज़रूरत स्कूल वाले क्यों महसूस नहीं करते?

स्कूलों में होने वाली अलग-अलग तरह की प्रतियोगिताएं बच्चों को कुंठित करने का काम करती हैं। चित्रकला प्रतियोगिता, कविता-पाठ प्रतियोगिता, गीत-नृत्य की प्रतियोगिता, फ़ैंसी ड्रेस प्रतियोगिता, क्विज़, वाद-विवाद प्रतियोगिता, दौड़ आदि एक ओर जहां बच्चों को विकसित करते हैं वहीं कुंठित भी करते हैं। उनके मन में कॉम्पलेक्स पैदा करते हैं। पुरस्कार पाने वाले बच्चे श्रेष्ठता की ग्रंथी से तो पुरस्कार नहीं पाने वाले हीनता की ग्रंथी से ग्रस्त हो जाते हैं।

सवाल और भी उठाए जा सकते हैं; जैसेकि यह सवाल–बच्चों को आख़िर वैसे काम दिए ही क्यों जाते हैं जिन्हें वे स्वयं न कर सकें, उनको पूरा करने में उन्हें बड़ों की ज़रूरत महसूस हो? जिनको पूरा करने में उनके पूरे परिवार को पसीने आने लगे। शिक्षा की यह कौन-सी पद्धति विकसित हो गई है कि बच्चों के साथ-साथ उनका पूरा परिवार पढ़ने लग जाए? प्रोजेक्ट बनाने लग जाए और इस प्रक्रिया में तनावग्रस्त हो जाए। बच्चों की पढ़ाई में माता-पिता का कितना योगदान है, इसकी परीक्षा भी ली जाने लगी है। स्कूलों में दो-तीन विषयों तक सीमित रहने वाले शिक्षक-शिक्षिका यह कैसे अपेक्षा करते हैं कि बच्चों के माता-पिता सभी विषयों के ज्ञाता होंगे? हर प्रोजेक्ट को पूरा करने में उस्ताद होंगे या वे चाहते हैं कि सभी माता-पिता घर पर ट्यूटर रखें और बच्चों के होमवर्क और प्रोजेक्ट उनसे करवा लिए जाएं? बेहतर तो यह होता कि शिक्षक-शिक्षिका स्वयं अपनी देखरेख में बच्चों से कोई कार्य संपादित करवाते, कठिन-से-कठिन काम मज़ेदार ढंग से करवाकर बच्चों के तनाव को दूर करते। लेकिन ऐसा होता कहां है? बच्चे तो स्कूल से तनाव लेकर ही घर आते हैं। हर रोज़ स्कूल से आकर पास की स्टेशनरी में मां-बाप के साथ जाना उनके लिए अनिवार्य-सा हो गया है। कल जो-जो चीज़ें उन्हें मैडम ने लाने को कही हैं, उनमें से कुछ वहां नहीं मिलीं तो दुकान-दुकान, बाज़ार-बाज़ार भटकने के सिवा उनके माता-पिता के पास कोई चारा नहीं रहता है। यदि माता-पिता दोनों कामकाजी हों तो समस्या और भी बढ़ जाती है। ऐसे में सामग्री ढूंढने, प्रोजेक्ट बनाने में माता-पिता और बच्चों को कितनी कठिनाई हो सकती है, इसका अनुमान लगाना कोई कठिन काम नहीं है।

आज सभी पब्लिक स्कूलों में पढ़ाई के साथ-साथ आर्ट, क्राफ़्ट, म्यूज़िक, डांस, कविता, कहानी आदि चीज़ों पर भी ध्यान दिया जा रहा है। निश्चय ही यह अच्छी बात है लेकिन जिस अगंभीरता से इन चीज़ों को स्कूल में करवाया जाता है, वह दुखद है–खानापूर्ति के सिवा कुछ नहीं है। आर्ट, क्राफ़्ट, कविता, कहानी जैसी चीज़ें भी बच्चों पर जबरन थोपी जाती हैं। बच्चे उन कामों को मज़े लेकर नहीं कर पाते बल्कि इस भय से करते हैं कि करके नहीं जाने पर टीचर उनके साथ बुरा सलूक करने वाली है या उसे इसके लिए ग्रेड मिलने वाला है। फिर बच्चों के द्वारा किए हुए कामों में उनकी मौलिकता भी नहीं परखी जाती, बल्कि यह देखा जाता है कि किस बच्चे ने कितना अच्छा मछलीघर बनाया, कितना अच्छा बर्ड हाउस बनाया? कितना अच्छा पोस्टर बनाया? जो सामग्री अच्छी दिखती है वह पी.टी.एम. के दिन क्लासरूम के कोने में सजा दी जाती है, नोटिस बोर्ड पर चिपका दी जाती है। यह अच्छा लग रहा पोस्टर किसी बच्चे ने खुद बनाया है या किसी बड़े से बनवाकर लाया है–यह देखने की फ़ुर्सत शिक्षकों को नहीं होती। ऐसे कामों में बच्चों का हाथ जितना अधिक लगता है, उतना ही वह रिजक्शन का शिकार होता है।

बड़ों से बनवाकर या बाज़ार से किसी प्रोफ़ेशनल से बनवाकर जमा किए गए मछलीघर आदि कक्षा को सजाने का काम करने लग जाते हैं। बच्चों के हाथ से बने टेढ़े-मेढ़े 'बर्ड हाउस' बच्चों को हाथोंहाथ वापस दे दिए जाते हैं। सिर्फ देखकर लौटा दिए गए प्रोजेक्ट घर वापस लाते हुए बच्चों के मन में जो स्थायी कुंठा घर कर जाती है इसका हिसाब स्कूलों के पास रहता है? वहां तो सुंदर-सुंदर चीज़ों को जमा कर पी.टी.एम. के दिन माता-पिता को भरमाने का हिसाब ही रखा जाता है जबकि होना यह चाहिए कि अपनी पारखी नज़र से ही शिक्षक-शिक्षिका यह पहचान लें कि कौन-सा काम बड़ों की मदद से किया गया है और कौन-सा काम बच्चों के कोमल हाथों के द्वारा हुआ है?

कौन-सी कविता बच्चे ने खुद लिखी और कौन-सी किसी पत्रिका से उतार ली? टूटी-फूटी भाषा में लिखी गई बच्चों की चंद पंक्तियों का महत्त्व किसी सिद्ध या प्रसिद्ध कवि की पंक्तियों से कुछ ज्यादा ही है, टेढ़े-मेढ़े कटे गत्तों से बनी किसी चीज़ का महत्त्व परिपक्व हाथों से कटे गत्तों से कुछ ज्यादा ही है–यह समझ आख़िर स्कूलों को क्यों नहीं होती? होती तो किसी बच्चे की खुद की लिखी कुछ पंक्तियों को विद्यालय पत्रिका में स्थान देने के बदले कहीं से उतार कर लाई पंक्तियों को स्थान दे दिया जाता! और क्या किसी स्कूल की कक्षा की दीवारों में इतनी जगह नहीं होती जहां कक्षा के तीस-पैंतीस बच्चों के बने पोस्टर या वाल हैंगिंग एक साथ लगाए जा सकें? क्या कक्षा के कोने में इतनी जगह नहीं होती कि वहां सभी बच्चों के बनाए मछलीघर, बर्ड हाउस या पेन स्टैंड एक साथ प्रदर्शित किए जा सकें? ऐसा करने से कम-से-कम किसी बच्चे को यह तो नहीं लगता कि वह इस काबिल नहीं है कि उसकी चीज़ प्रदर्शित नहीं की जा सकती? सिर्फ़ माता-पिता या बाहर से आए किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को सब कुछ अच्छा-अच्छा दिखाने के लिए कुछ बच्चों को कुंठित क्यों कर दिया जाता है? सुंदरता के लिए मौलिकता को आख़िर सूली पर क्यों चढ़ा दिया जाता है?

बच्चों को कुंठित करने में स्कूलों में आयोजित किए होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों की भी भूमिका होती है। दुखद तो यह है कि यह कुंठा बच्चों के माता-पिता तक संचरित हो जाती है। एक उदाहरण–एक दिन हमारे पड़ोसी हमारे घर आए। होते-होते बात स्कूल पर शुरू हो गई। जिस स्कूल में उनकी बेटी पढ़ती है, वे उस पर बरस पड़े। उनकी नाराज़गी का कारण यह था कि स्कूल में होने वाले वार्षिक-उत्सव में उनकी बेटी को रानी का पंखा झलने की भूमिका दे दी गई। "पिछली बार उसे पेड़ बनाकर स्टेज पर खड़ा कर दिया था, इस बार दासी बना दिया?" उन्होंने बताया कि उनकी बेटी घर आकर रोने लगी। अगले दिन जाकर मैडम से कहा, "मैं पंखा झलने वाली नहीं बनूंगी, मुझे डांस करना है!" मजबूर होकर मैडम ने उसे डांस में ले लिया। मैंने पड़ोसी को कहा,"आपकी बेटी चित्र इतना अच्छा बनाती है, एक बार फ़र्स्ट भी आई थी, डांस में सेलेक्ट नहीं हुई तो क्या हुआ?" "ना जी! यह डांस भी कर लेगी। मैम चांस दें तब न?" पड़ोसी के कहने पर मैं चुप रह गया। एक पिता की महत्त्वाकांक्षा के विरुद्ध मैं कह भी क्या सकता था? लेकिन मैं सोचने लगा कि स्कूलों में होने वाली गतिविधियां बच्चों के विकास के साथ-साथ उन्हें कुंठित करने का काम भी तो करती रहती हैं? नर्सरी और प्री-प्राइमरी तक के बच्चों के लिए आयोजित कार्यक्रमों में तो कोशिश की जाती है कि सभी बच्चे उसमें भाग लें लेकिन ऊपर की कक्षाओं में तो चयन ही किया जाता है। यह चयन मंच पर परफ़ॉर्म करने वाले बच्चों में कुछ होने का एहसास जगाते हैं। मंच से नीचे छूट गए बच्चों के एहसास के बारे में कोई नहीं सोचता। छोटे बच्चों की स्थिति में तो मंच पर ही यह विभाजन देखा जा सकता है।

बच्चों की योग्यता के हिसाब से उन्हें अलग-अलग भूमिकाओं में रखा जाता है। कोई आगे की पंक्ति में होता है तो कोई पीछे, कोई राजा-रानी की भूमिका में होता है तो कोई राजा का पंखा झलने वाले दास-दासी की भूमिका में। कोई गायक, नर्तक की भूमिका में होता है तो कोई पेड़ बनाकर खड़ा कर दिया जाता है, नदी बनाकर लिटा दिया जाता है। बार-बार पेड़, नदी, दासी, कहार या चरवाहे की भूमिका में उतारे जाने वाले बच्चों के मन में लगने वाले आघात के बारे में सोचने वाला कोई नहीं होता। दुख की बात तो यह है कि बच्चों के मन में इस तरह से घर करती कुंठा उनके माता-पिता तक भी पहुंच जाती है और वे मुख्य भूमिका निभा रहे बच्चों के माता-पिता से नज़रें चुराने को विवश हो जाते हैं। मुख्य भूमिका और सहायक भूमिका निभाने वाले बच्चे अगर पड़ोसी या मित्र रहे होते हैं तो दोनों के संबंध में खटास पैदा होते देर नहीं लगती।

इसी तरह स्कूलों में होने वाली अलग-अलग तरह की प्रतियोगिताएं भी बच्चों को कुंठित करने का काम करती रहती हैं। चित्रकला प्रतियोगिता, कविता पाठ प्रतियोगिता, गीत-नृत्य की प्रतियोगिता, फैंसी ड्रेस प्रतियोगिता, क्विज़, वाद-विवाद प्रतियोगिता, दौड़ आदि एक ओर जहां बच्चों को विकसित करते हैं वहीं कुंठित भी करते हैं। उनके मन में कॉम्पलेक्स पैदा करते हैं। पुरस्कार पाने वाले बच्चे श्रेष्ठता की ग्रंथी से तो पुरस्कार नहीं पाने वाले हीनता की ग्रंथी से ग्रस्त हो जाते हैं। उन्हें दोनों तरह की ग्रंथियों से बचाने के लिए सिर्फ़ इतना करने की ज़रूरत है कि सभी प्रतियोगियों को छोटा-मोटा पुरस्कार दे दिया जाए। कविता-पाठ करने वाले बच्चों को कविता की एक-एक किताब भेंट दे दें, फैंसी ड्रेस में सज-धजकर आने वाले बच्चों को एक-एक चॉकलेट या फूल भेंट में दे दें।

इसके साथ ही बच्चों को यह बताने की ज़रूरत भी है कि जीत-हार कोई चीज़ नहीं होती। उन्हें तो बस कविता पढ़ना आना चाहिए, चित्र बनाना चाहिए, नाचना-गाना चाहिए, क्विज़ में हिस्सा लेना चाहिए, ज़रूरत पड़ने पर दौड़ लेना चाहिए। बच्चों को बिना प्रतिस्पर्धा आगे बढ़ने और दूसरों को बढ़ने देने की सीख सिखाना बेहतर दुनिया बनाने के लिए बहुत ज़रूरी है। ❑

ज़रूरत नहीं है दुखहरण मास्टर की

सुषमा झा

हिंदी के प्रसिद्ध कवि बाबा नागार्जुन की एक कविता में सुरती खाते और बात-बात पर छड़ी भांजते जिन 'दुखहरण मास्टर' का वर्णन किया गया है, वह आमतौर पर भारतीय अध्यापकों के प्रतिनिधि के रूप में देखे जाते रहे हैं। लेकिन अब स्थिति बहुत बदल चुकी है। गांवों के स्कूलों में कहीं-कहीं दुखहरण मास्टर के वंशज भले ही दिख जाएं लेकिन शहरों में उनकी प्रजाति को विलुप्त घोषित किया जा सकता है। पब्लिक स्कूलों की बाढ़ ने इस प्रजाति को विलुप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन स्कूलों में तो पुरुषों के अध्यापक बनने के रास्ते लगभग बंद कर दिए गए हैं। अब 'मैम' पब्लिक स्कूलों की शोभा बढ़ाने लगी हैं। यह अच्छी ख़बर है। लेकिन क्या पहनावे और बोलने के ढंग के बदलने से दुखहरण मास्टर की छड़ी भांजने की मानसिकता बदल गई है? शायद नहीं! आज भी अध्यापकों और अध्यापिकाओं में शारीरिक दंड देने की प्रवृत्ति विद्यमान है। ऐसे स्कूल या शिक्षक ढूंढने पर ही मिल सकते हैं जो अपने विद्यार्थियों को डांट-डपट, दंड वगैरह देने से परहेज़ करते हों। कभी-कभी तो बच्चों को भयानक शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना देने की ख़बरें अख़बारों और टी.वी. में आती रहती हैं। ऐसी ख़बरों को देखने, पढ़ने के बाद दुख होता है।

दूसरी तरफ़, यह सुखद बात है कि सरकार, स्कूल प्रशासन और माता-पिता बच्चों को शारीरिक दंड देने के सख़्त ख़िलाफ़ हो गए हैं। शिक्षकों की प्रवृत्ति भले ही न बदली हो लेकिन वे बच्चों को दंडित करने से पहले सौ बार ज़रूर सोचने लगे हैं। हालांकि बच्चों को डांट-डपट और तरह-तरह से भयभीत करने से वे अब भी गुरेज़ नहीं करते हैं। इसके लिए उनके पास अपने तर्क हैं। उनका मानना है कि बच्चे अनुशासन में नहीं रहेंगे तो वे उन्हें पढ़ा कैसे पाएंगे? उन्हें अनुशासन में रखने के लिए डांट-डपट ज़रूरी है। सरकारी स्कूलों में शिक्षकों को बच्चों की बड़ी तादाद को संभालना होता है। वे आख़िर उन्हें संभालें भी तो कैसे? प्राइमरी स्तर पर एक ही शिक्षक पूरी क्लास को पढ़ाता है। पढ़ाने के साथ-साथ उसे यह भी देखना होता है कि बच्चे आपस में मारपीट न करें। यहां तक कि कक्षा से बाहर जाते भी वे अगर मारपीट करें और किसी को खरोंच भी आ जाए तो संबंधित कक्षा का शिक्षक ही दोषी माना जाता है। एक सरकारी स्कूल के युवा शिक्षक के अनुसार–"पहले वाली स्थिति ही अच्छी थी। विद्यार्थी शिक्षकों का लिहाज़ करते थे, कहा मानते थे। अब तो सीनियर क्लास के लड़के शिक्षकों को ही धमकाते हैं कि आप कुछ कहेंगे तो मैं प्रिंसिपल से शिकायत कर दूंगा।"

शिक्षकों और विद्यार्थियों के रिश्ते में दरार पैदा हो गई है। यह दरार पब्लिक स्कूलों में थोड़ी कम दिखाई देती है। वहां शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच माहौल अधिक दोस्ताना होता है। लेकिन दुर्भाग्यवश यह दोस्ताना स्वाभाविक नहीं, बल्कि व्यावसायिक दबाव की वजह से अधिक है। आज के माता-पिता यह नहीं चाहते कि उनके बच्चे महंगे स्कूलों में जाएं और वहां से मुर्ग़ा बनकर या पीठ पर छड़ी के निशान लेकर घर वापस आएं। वे अपने बच्चों पर एक उंगली तक पड़ते नहीं देखना चाहते। ऐसे में पब्लिक स्कूलों की यह मजबूरी हो जाती है कि बच्चों को शारीरिक रूप से प्रताड़ित न होने दें। स्कूल प्रशासन का अंकुश शिक्षकों पर रहता है, छात्र या माता-पिता की शिकायत पर किसी शिक्षक को निष्कासित करते उन्हें देर भी नहीं लगती। यही वजह है कि पब्लिक स्कूलों के शिक्षक/शिक्षिका विद्यार्थियों से बहुत सहज और फ्रेंडली दिखाई देते हैं। शिक्षकों की तरफ़ से देखें तो निश्चय ही उनके लिए यह भूमिका बड़ी कठिन हो सकती है। उन्हें अपने तन-मन को रोके रखकर बच्चों को अनुशासित रखना है और पढ़ाना है। शिक्षकों की इस कशमकश के बारे में पब्लिक स्कूल की एक शिक्षिका का कहना है कि–"हमें बहुत मुश्किल हालात का सामना करना पड़ता है। मैं भी इस पक्ष में हूं कि बच्चों को मारा-पीटा न जाए, डांटा-डपटा न जाए, लेकिन बिना डांटे-डपटे बच्चों को संभालना आसान भी तो नहीं होता? आख़िर कभी-कभार घर में हम अपने बच्चों को डांटते-डपटते हैं या नहीं?"

बच्चों के दृष्टिकोण से देखें तो उन्हें न तो घर में डांट-डपट पसंद है, न ही स्कूल में। न तो डांटने-डपटने वाले माता-पिता उन्हें पसंद हैं, न ही शिक्षक। हां, वे डांट-डपट के इतने आदी हो गए हैं कि थोड़ी-बहुत डांट सहने को भी तैयार रहते हैं। एक पब्लिक स्कूल की छठी कक्षा की छात्रा का कहना है–"मेरी क्लास में सभी टीचर्स बहुत अच्छी हैं। हंसमुख और फ्रेंडली। पर कभी-कभी हमें डांटती भी हैं। जब उनका मूड ज्यादा ख़राब रहता है तो वे हमें ज्यादा डांटती हैं। मेरे ख़्याल से उन्हें डांटना तो चाहिए, लेकिन कम!"

बच्चों को डांटा-डपटा क्यों जाए? इसलिए कि वे बड़ों की बात नहीं मानते? शिक्षकों की नहीं सुनते? बच्चों के जीवन और शिक्षण पर चिंतन करने वाले दुनिया भर के शिक्षा शास्त्रियों ने इस बात का विरोध किया है। बच्चों से अपनी बात मनवाने के लिए ज़ोर-ज़बरदस्ती करते माता-पिता और शिक्षक उनकी आलोचना के विषय रहे हैं। टॉल्सटॉय, ए.एस. नील, रवींद्रनाथ टैगोर, गिजुभाई जैसे शिक्षा शास्त्री बच्चों की आज़ादी के पक्षधर रहे हैं। बच्चों को भयमुक्त वातावरण में पालने और पढ़ाने के पक्षधर रहे हैं। ए.एस. नील जैसे शिक्षक तो अपने विद्यार्थियों को इतनी आज़ादी देते थे कि विद्यार्थी उन्हें उनके नाम से पुकार सकते थे। विद्यार्थियों पर हर वक्त अंकुश रखने वाले शिक्षक इस आज़ादी की कल्पना तो नहीं ही कर सकते हैं, नील और गिजुभाई जैसे शिक्षक इसलिए बच्चों को आज़ादी देने के पक्ष में थे कि इससे वे आज़ाद और कुंठारहित नागरिक के रूप में विकसित होंगे। नील और गिजुभाई के इस दर्शन को समझने और अपनाने वाले शिक्षकों की आज कितनी आवश्यकता है! शिक्षकों द्वारा दी गई आज़ादी का उपभोग करते हुए भी शिक्षकों के प्रति आदर और सम्मान का भाव रखना विद्यार्थियों के लिए भी उतना ही ज़रूरी है।

वर्तमान परिवेश में देखें तो यह सच है कि हमारे यहां एकलव्य या आरुणि जैसे शिष्य नहीं रहे। सच यह भी तो है कि हमारे गुरु भी अब पहले जैसे नहीं रहे! आज सद्गुरुओं की बड़ी आवश्यकता है। केवल भाषण से नहीं बल्कि अपने व्यवहार से अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे, दंड से नहीं, प्रेम और प्रोत्साहन से काम लिया करते थे। तभी उनकी दी हुई शिक्षा चिरस्थायी हुआ करती थी। ❑

संपर्क : एस.एफ़. 22, सिद्ध विनायक अपार्टमेंट, अभयखंड-3, इंदिरापुरम, ग़ाज़ियाबाद-201010

बाल साहित्य के अप्रतिम सर्जक...

पृष्ठ 10 से आगे

जो उन्हें बासीपन और घिसे-पिटे होने से अलग करता है। समकालीन-जीवन, वैज्ञानिक-विकास और यथार्थबोध का अधुनातन स्वरूप 'अंतरिक्ष-सूट में बंदर', 'गुंडों के बच्चे', 'इकलौता लाल', 'एक पत्ता जो जासूस नहीं था' और 'बलिया के बाबा' बालकथाओं में स्पष्टतः मुखरित हुआ है। नागरजी ने बच्चों के लिए जो कुछ भी लिखा वह बच्चों द्वारा खूब पढ़ा और सराहा गया। बच्चों के प्रति लगाव और उनके लेखन के प्रति नागरजी की ललक को इसी से समझा जा सकता है कि *पीढ़ियां* उपन्यास समाप्त कर लेने के बाद और अपने निधन से पूर्व उन्होंने जो कहानियां रचीं, वह सबसे छोटी आयु के बच्चों के लिए थीं। इनका प्रकाशन नागरजी के देहांत के बाद हुआ। नागरजी के बालकथा-लेखन में वैविध्य एवं अनेक आयाम तो हैं ही, उनका बालकथा-संसार सभी आयु-वर्ग के बच्चों के अनुरूप रोचक, मनमोहक और ज्ञानवर्द्धक भी है।

हिंदी ही नहीं, विश्व का बाल साहित्य भी कथा-बहुल है। परंतु हिंदी बालकथा-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा उपन्यास आज भी विदेश के बाल उपन्यासों को देखते हुए संतोषप्रद रूप से समृद्ध नहीं है। आज़ादी के बाद इस दिशा में प्रयास हुए, जिससे स्थिति निराशा की नहीं रही, पूर्वापेक्षा बेहतर हुई। 1965-70 के दौर में हिंदी में भी टारजन-फैंटम और विदेशी चरित्रों वाले बाल उपन्यास तथा चित्रकथाएं अनुदित होकर तेजी से प्रसारित हुईं। नागर जी ने बजरंगी-नौरंगी जैसे बल-बुद्धिशाली चरित्रों वाली यथार्थवादी; साथ ही कल्पनाशीलता से परिपूर्ण बाल उपन्यास शृंखला लिखी। इनमें बजरंगी यदि पहलवान हैं तो नौरंगी, तंत्र-मंत्र की प्रत्यक्ष चातुरी में विपरीत वस्तुतः रसायनज्ञ और वैज्ञानिक प्रविधि के प्रयोक्ता! दोनों चरित्र अपनी ठेट-देशजता में नितांत भारतीय हैं। इनकी बल-बुद्धि के कारनामे बच्चों को सृजनात्मक रूप से करने के लिए उत्प्रेरित कर सकते हैं। अमृतलाल नागर के लिखे तीन बाल उपन्यास हैं–*बजरंगी-नौरंगी, बजरंगी पहलवान* तथा *बजरंगी स्मगलरों के फंदे में*। अपने समय में नागरजी के ये तीनों बाल उपन्यास कथ्य, चरित्र, कथा के परिपाक और बाल उपन्यास-कथा लेखन में नवीनता और विश्वसनीयता आदि की दृष्टि से अभिनव-पहल थे। काश! इस शृंखला में नागरजी से और बाल उपन्यास लिखवाए गए (या उन्होंने लिखे) होते तो हिंदी का बाल उपन्यास-साहित्य उनके कृतित्व से और भी समृद्ध होता।

बाल महाभारत, अमृतलाल नागर के महत्त्वाकांक्षी उपन्यास *एकदा नैमिषारण्ये* की लेखकीय तैयारी से जुड़े गहन अध्ययन को जानकारियों को बच्चों के स्तर पर साझा करने का एक और महत्त्वपूर्ण रचनात्मक प्रयत्न है। *बाल महाभारत* में 18 पर्वों वाले *वृहत् महाभारत* की कथाओं को नागरजी ने बच्चों के अनुरूप पुनर्सृजित किया है। *बाल महाभारत* न केवल *महाभारत* की कथाओं का बल्कि; अपने रचनाकाल (1969-70) तक के आधुनिक वैश्विक-परिदृश्य की परिघटनाओं का भी 'समकालीन बाल महाभारत' बन जाता है। अमृतलाल नागर वयस्कों के लिए साहित्य रचते उन कुछ मूर्धन्य हिंदी लेखकों में प्रमुख हैं जिन्होंने बच्चों के लिए बाल साहित्य को सचमुच समृद्ध किया है। ❑

संपर्क : सी-1423/2, इंदिरा नगर, लखनऊ-226016

बाल साहित्य : परंपरा और आधुनिकता...

पृष्ठ 12 से आगे

हैं। उनका ही उपन्यास *किस्सा गुलाम* है, जिसमें एक दलित बालक है कुंदन जो बौद्धिक स्तर पर बहुत आगे पहुंच जाता है लेकिन संस्कारों की गुलामी उसका पीछा नहीं छोड़ती। अपनी साहित्यिक सीमा में यह भी बालोपयोगी है।

बाल साहित्य लेखन में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाम बड़े आदर से लिया जाता है जो अपेक्षित भी है। राष्ट्रकवि दिनकर भी जहां एक ओर *रश्मिरथी* और *कुरुक्षेत्र* जैसा काव्य लिख रहे थे वहीं दूसरी ओर बाल-मनोविज्ञान की छवियां भी उकेर रहे थे। उनका *चित्तौर का साका* जितना चर्चित हुआ उससे कहीं ज्यादा *सूरज का ब्याह* चर्चा में रहा क्योंकि दूसरी कृति बाल काव्य है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी इस दिशा में सार्थक पहचान बनाई थी। *बालक* पत्रिका के संपादन के क्रम में उन्होंने निरंतर बाल-मनोविज्ञान पर काम किया। उस समय देश में, 1925 की बात है, जो-जो पत्रिकाएं इस तरह की प्रकाशित होती थीं उनमें इस पत्रिका की सर्वत्र चर्चा होने लगी। बाद में उन्होंने बालोपयोगी मासिक पत्रिका *चुन्नु-मुन्नु* को भी अपने सहयोग से आगे बढ़ाया। यह सोच का विषय है कि अब तक कितने रचनाकार ऐसे हुए जिन्होंने बाल साहित्य पर पूरे मनोयोग से काम किया है।

यह केवल लेखक की जवाबदेही नहीं है कि वह रुचिगत बालोपयोगी बातें लिखे भी और घर-घर में जाकर उसका प्रचार-प्रसार करे। यह तो घर में अभिभावक, स्कूल में अध्यापक का दायित्व है कि वह कलेक्ट करें और बच्चों में वैसी भावना और प्रेरणा पैदा करें जिससे बच्चे आकर्षित होकर बार-बार पढ़ें। अध्यापक और अभिभावक ही सबसे ज्यादा उदासीन रहते हैं। अपना बचपना भूल जाते हैं जब उनको राजा-रानी की कहानी, भूत-प्रेत की कहानी, बाज़ और बहेलिये की कहानी सुनाई जाती थी। उनका ही बच्चा जब यह सुनना चाहता भी है तो आंखें तरेरने लगते हैं। यहां लेखक का दोष कहां है? भयमुक्त वातावरण और रसमय परिवेश पैदा करने की ज़रूरत है। मोटिवेशन ज़रूरी है। एक-से-एक किताबें बाज़ार में उपलब्ध हैं जिनसे बच्चों को जोड़ना हमारा कर्त्तव्य है। डिग्री और नौकरी हासिल कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। बच्चों का मानसिक विकास न होने से हमारा सांस्कृतिक विकास भी रुक सकता है, इसके लिए ठोस कदम उठाने से परहेज़ नहीं करना चाहिए।

बाल साहित्य के प्रति हमारा उदार और सकारात्मक सोच भी इस दिशा में किए गए प्रयासों की परंपरा को प्रवाहशील बना सकता है। बाल साहित्य के श्रेष्ठ रचनाकारों की रचनाओं का कलेक्शन होना चाहिए। *बालक, किशोर प्रभात, नंदन* जैसी पत्रिकाओं में अब तक जो बाल साहित्य पर काम हुए उनको संग्रहीत कर गांव-गांव और स्कूल-स्कूल तक सस्ते दामों में उपलब्ध कराना चाहिए। *बाल भारती* इस क्षेत्र में आज भी बहुत सार्थक कदम उठा रही है। *पराग* जैसी पत्रिका को हम नहीं भूल सकते हैं। बाल साहित्य का क्षेत्र व्यापक हो इसके लिए ज़रूरी है समय-समय पर चर्चा और सेमिनार भी हो! ❑

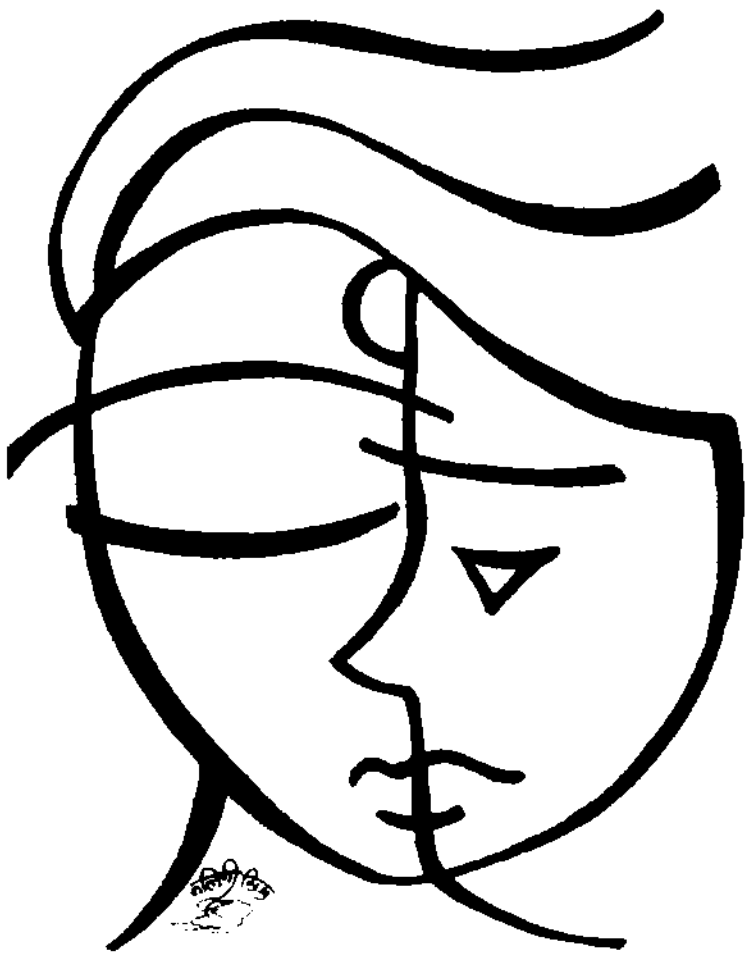
संपर्क : भदई निवास, ब्रह्मस्थान, बालूघाट, मुज़फ़्फ़रपुर-842001 (बिहार)

बाल कहानी

आख़िरी सीन

जीलानी बानो

उर्दू से अनुवाद : **हरपाल कौर**



जब छुट्टियों ने किसी तरह ख़त्म होने का नाम न लिया, तो हमने तय किया कि एक ड्रामा स्टेज किया जाए। मारधाड़, विस्मयकारी कमालों और शाही शानो-शौकत से भरपूर। ऐसा कि मुहल्ले के सारे बच्चे एक बार फिर हमारा लोहा मान जाएं और पिछले साल की छुट्टियों में हमारे जो जादू के खेल दर्शकों के सामने फ़ेल हो चुके थे, उनका बदला चुका दिया जाए। जैसे ही स्टेज-ड्रामे का ख़याल मेरे दिमाग़ में आया, मैंने तौकीर को बताया। वह खुद भी एक ज़माने में 'मुग़ले-आज़म' की तरह शाही लिबास पहन कर लकड़ी की तलवार चलाने को बेचैन था। इधर मुन्नी ने स्कूल में कथक नाच के नए तोड़े सीखे थे और छुन्नन मेले से नक़ली मूंछें लाया था। खुद मुझे अपनी आवाज़ पर सदा लता मंगेशकर का धोखा होता था। सारे मशहूर फिल्मी गीतों को मैं नक़ल कर सकती थी, यानी स्टेज-ड्रामे के लिए हर ज़रूरी चीज़ मौजूद थी।

फ़ौरन तैयारियां शुरू कर दीं। मुहल्ले के बच्चों में जैसे यह ख़बर आम हुई। वह हमारे जादुई कमालों वाला हादसा भूलकर एक बार फिर हमारी योग्यता मानने को तैयार हो गए। असल में बात यह थी कि उस मोहल्ले के किसी बच्चे का न तो हमारे बंगले से ऊंचा घर था, और न वह हमारी तरह खूबसूरत थे। सुबह जब हम स्कूल की वरदी पहने पप्पा के साथ कार में बैठे स्कूल जाते थे, तो मुहल्ले भर के लड़के हमें ईर्ष्या से देखा करते थे। यही कारण था कि हम हर समय उन पर अपनी योग्यता और अमीरी का रोब जमाने की चिंता में रहते थे।

ड्रामे का नाम सुनते ही सब बच्चे अपनी-अपनी सेवाएं पेश करने लगे, लेकिन उन्हें क्या पता कि स्टेज-ड्रामा क्या होता है? हमने सबको अस्वीकार कर दिया।

सबसे पहले ड्रामे की चिंता हुई। यह काम मेरे ज़िम्मे था। इसलिए मैंने 'मुग़ले-आज़म', 'पुकार' और 'झांसी की रानी' को तोड़-मरोड़ कर एक ड्रामा बना डाला। उस ड्रामे में तौकीर के लिए बादशाह बनकर तलवार चलाने, मुन्नी के नाच, मेरे गाने और छुन्नन के डाकू बनकर लूट-मार करने के सीन बार-बार रखे गए थे।

तौकीर आख़िरी सीन पर बहुत ज़ोर दे रहा था। वह ड्रामे का डाइरेक्टर था, इसलिए उसका ख़याल था कि आख़िरी सीन ऐसा हो कि पब्लिक की तालियां किसी तरह न रुके और बच्चे हंसते-हंसते बेहाल हो जाएं।

आख़िरी सीन पेश करने के लिए हमने अपनी सारी योग्यता लगा डाली। जब ड्रामा तैयार हो गया, तो स्टेज, लिबास और स्टेनगिस की चिंता हुई। यह बहुत नाजुक काम था। ख़ैर, स्टेज तो लॉन में पलंग और तख़्त खड़े करके बना लेंगे,

मगर स्टेज का परदा? उसकी सजावट? और हमारे लिए लिबास कहां आएं?

मुन्नी कहती थी कि जब परवीन ख़ाला दुल्हिन बनी थीं तो अनारकली लग रही थीं, क्यों न उनसे वह कपड़े और ज़ेवर थोड़ी देर के लिए मांग लाएं। तौकीर अपने लिए एक चमकती हुई काली गाऊन की चिंता में था, जिसे पहनकर पप्पा हाई कोर्ट जाते हैं। मेरा जी तो मामी बेगम की सुर्ख़ चर्कायों वाली साड़ी में अटक गया था। ऊपर अगर मैं उनसे मांगकर लिपस्टिक भी लगा लूं, तो बिल्कुल महारानी लगूंगी।

मगर वह सारे अरमान दिल के दिल में ही रह गए, क्योंकि किसी पत्थरदिल ने हमें यह चीज़ें देने का वायदा न किया, बल्कि मामी बेगम तो कुछ चौकन्नी हो गईं, "ख़बरदार! जो किसी ने मेरी सिंगार-मेज़ को हाथ लगाया। जूती से ख़बर लूंगी"। वह बड़ी तेज़ मिज़ाज थीं, और जूती से ख़बर लेने में बड़ी तेज़ थीं।

"अच्छा तो आप अपनी हरी वाली साड़ी दे दीजिए!" मैंने ख़ुशामद की।

"ए वाह! क्या मेरे पास मुफ़्त की साड़ियां आ गई हैं, जो बच्चों को सत्यानास करने के लिए थमा दूं?"

तौकीर ने गाउन मांगने से पहले पप्पा से केवल ड्रामा स्टेज करने पर बातचीत करना चाही, तो पप्पा गरजे–"क्या कहा"? और यह सुनते ही हम सब दुम दबाकर भागे।

निराश होकर मैंने तो ड्रामे का ख़याल ही छोड़ दिया, मगर तौकीर बादशाह बनने के लिए बेताब था और छुन्नन की मूंछें और नक़ाब लगाकर डाकू बनने का पूरा अभ्यास कर चुका था।

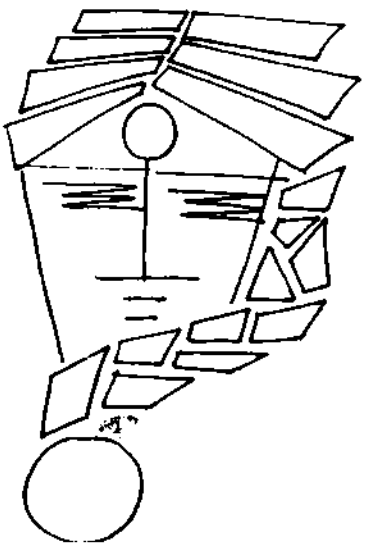
फिर एक दिन करना ख़ुदा का यों हुआ कि अचानक परवीन ख़ाला की सास का देहांत हो गया। सुबह यह ख़बर आई, तो सब नाश्ता कर रहे थे। रकाबियों में निवाले छोड़कर भागना पड़ा। मैंने और मुन्नी ने अम्मा के साथ चलने की बहुत ज़िद की। आख़िर एक-एक रुपया हथियाकर खेलकूद में व्यस्त हो गए।

अभी हम अपनी गुड़िया को नहलाने का इरादा ही कर रहे थे कि देखते क्या हैं, तौकीर एक झिलमिल करती काली गाउन पहने, परवीन ख़ाला का चमकता हुआ सुनहरा दुपट्टा गले में डाले, तलवार संभाले, धम से हमारे बीच कूदा और बड़ी शान से बोला–"मा बदौलत के दरबारियों को हाज़िर किया जाए।"

हम दोनों ख़ुशी के मारे चीख़ पड़े, "अल्लाह! तौकीर तो सचमुच का बादशाह लग रहा था, मगर पप्पा गाउन उसके हाथ कैसे लगी?"

मालूम हुआ कि घबराहट के मारे अम्मा बस कमरे खुले छोड़ गई हैं। हद यह है मामी बेगम का मेज़ पर लिपस्टिक से लेकर कपड़ों को ख़ुशबूदार बनाने वाला सेंट का पंप तक धरा था, और उनकी आलमारी में एक-से-एक साड़ी जगमगा रही थी।

ख़ुशी के मारे हम सब नाचने लगे और फ़ौरन ड्रामे की तैयारियां शुरू कर दीं।



छुन्नन मिनट-भर में दर्शकों का एक हुजूम बटोर लाया। एक घंटे में न सिर्फ़ स्टूल रंग-बिरंगी साड़ियों से झिलमिला रहा था, बल्कि एक रुपया प्रति टिकट के हिसाब से मेरा वह पर्स पैसों से भर चुका था, जो मैं मामी बेगम की मेज़ पर से उठा लाई थी।

बाहर एक लड़का मसख़रों की तरह एक अख़बार को टोप की तरह ओढ़े दूसरे अख़बार से भोंपू बना चिल्ला रहा था, "आइए मास्टर छुन्नन की कामेडी और स्टेज के दिलीप कुमार मिस्टर तौकीर के अभिनय के कमाल देखिए। नाच-गाना और टिकट केवल एक रुपया। दिलचस्प तमाशा देखिए और हंसते-हंसते लोटन-कबूतर बन जाइए!"

स्टेज के पीछे छुन्नन का भाई मुन्नन, रियाज़ भाई का वाइलिन बजाकर पृष्ठभूमि को संगीत दे रहा था। मामी बेगम के पाउडर और लिपस्टिक से हमारी शक्लें लाल-भबूका हो रही थीं। मुन्नी परवीन ख़ाला की शादी वाले जोड़े में अनारकली से लाख दर्जे ज़्यादा सज रही थी। छुन्नन ने रियाज़ भाई का काला कोट पहनकर अम्मा का शाल ओढ़ लिया था, अलबत्ता मामी बेगम की साड़ी मुझसे किसी तरह न संभल रही थी। बार-बार पैरों में उलझने से उसमें खोंचे लग रहे थे।

सबसे पहले छुन्नन ने औंधी-सीधी कलाबाज़ियां खाकर स्टेज पर कुछ कामेडी 'आइटम' पेश किए, मगर पब्लिक को गुमसुम देखकर आहिस्ता से मुझसे कहने लगा–"बच्चों से कहो, ज़ोर-ज़ोर से हंसें।"

"हम क्यों कहें", तौकीर ने कहा–"अब देखना, यह सब आख़िरी सीन पर हंसते-हंसते पागल हो जाएंगे।"

फिर ड्रामा शुरू हुआ। मुन्नी के डांस ने तो धूम मचा दी। उसका ज़र्क़-बर्क़ लिबास स्टेज पर चमचम चमक रहा था, मगर ऐन वक़्त पर बादशाह सलामत (तौकीर) अपने संवाद भूल गए और ऊल-जलूल बकने लगे। इसलिए महारानी (मैं) भी घबरा गई और ड्रामा अपनी मनमानी दिशा में चलने लगा। हमारी नौकरानी लड़की को डाकुओं के आने का ऐलान करना था। इसलिए वह हमारे संवाद ख़त्म होने से पहले ही चिल्लाए जा रही थी–"डाकू आ रहे हैं...डाकू आ रहे हैं।"

"आने दो। मा बदौलत डाकुओं से नहीं डरते..." तौकीर ने सीना ठोककर ऐलान किया। ऐन उसी समय मुझे संदेह हुआ कि डाकू सचमुच आ रहे हैं। अचानक चीख़-पुकार सुनाई देने लगी थी। शायद छुन्नन ने किसी तरह पृष्ठभूमि की आवाज़ों का भी इंतज़ाम किया था।

"ख़बरदार! अगर किसी ने हमारे महल में कदम रखा, तो मा बदौलत उसका सिर क़लम कर देंगे" मैंने आगे बढ़कर ललकारा।

बच्चे हमारे अभिनय में खोकर जैसे सचमुच किसी बादशाह के दरबार में दम साधे बैठे थे।

"ठहर तो महारानी की बच्चो, तेरी ज़बान न क़लम की, तो ..." अचानक एक आवाज़ आई और उसके बाद...।

उसके बाद, "प्यारे दर्शको, डाकू सचमुच घुस पड़े और वहीं स्टेज पर बड़े घमासान का रण पड़ा...अम्मा ने अपनी शाल खींची। पप्पा छड़ी से तौकीर को धड़ाधड़ पीट रहे थे और मामी बेगम की जूती मा बदौलत के सिर पर बज रही थी। वह पर्स भी उनके हाथ में जा चुका था...जिसमें हमारी कमाई थी। रियाज़ भाई अपने वाइलिन के गज़ से छुन्नन को छठी का दूध याद दिला रहे थे। स्टेज 'शाही ख़ानदान' की फ़रियादों से कांप रहा था और पब्लिक ज़ोर-ज़ोर से तालियां पीट रही थी। आख़िरी सीन पर हंसते-हंसते उनके कलेजे फटे जा रहे थे। ❑

संपर्क : अनुवादक : सी-34, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015

जन्म-दिवस पर विशेष

साहित्य-कला के प्रति नेहरू के सरोकार

प्रदीप पंत

"देश-निकाला और क़ैद की सज़ा पाए हुए दूसरे लोग अगर ज़िंदा निकल आएं तो मायूस हो जाते हैं, साहित्यकार उन दिनों को अपने सबसे मीठे दिनों में गिनता है।" उन्नीसवीं शताब्दी के अत्यंत महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञ बैंजामिन डिज़रेली के इस कथन को पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 9 अगस्त 1933 को अपनी पुत्री इंदिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे ख़त में उद्धृत किया है जिसका शीर्षक है–'आख़िरी पत्र' और जो उनकी बहुप्रशंसित पुस्तक *ग्लिमसेज़ ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री* में है। यह पुस्तक हिंदी में *विश्व इतिहास की झलक* नाम से प्रकाशित हुई है।

नेहरू ने स्वाधीनता-संघर्ष के दौरान अपनी जेल-यात्राओं में अपनी बेटी को लगातार कई पत्र लिखे थे। पत्रों का यह सिलसिला 26 अक्टूबर 1930 को नैनी स्थित सेंट्रल जेल से आरंभ हुआ था। पहले पत्र का शीर्षक रखा गया–'सालगिरह की चिट्ठी', जो इंदिरा प्रियदर्शिनी के तेरहवें जन्मदिवस पर लिखी गई। चिट्ठी के पुस्तक में आने पर जवाहरलाल नेहरू ने एक टिप्पणी देते हुए पाठकों को बताया है कि उनकी बेटी का जन्मदिन अंग्रेज़ी तारीख़ के अनुसार 19 नवंबर को पड़ता है, लेकिन इसे मनाया गया विक्रमी संवत् के अनुसार 26 अक्तूबर को। बहरहाल जेल से लिखी गई कई चिट्ठियां पहले *पिता के पत्र पुत्री के नाम* पुस्तक में आईं। फिर पत्रों की संख्या बढ़ी तो उन्हें *विश्व इतिहास की झलक* नाम से एक वृहद ग्रंथ का रूप दे दिया गया, जो कुल मिलाकर यूरोपीय दुनिया से अधिक एशिया और प्राचीन इतिहास पर केंद्रित है क्योंकि नेहरू का मानना था कि यूरोप के बारे में तो बहुत कुछ लिखा गया है, किंतु एशिया और उसके इतिहास के बारे में कम। लेकिन जेल में लिखी गई इस कृति और जेल में ही चंद महीनों में लिखी गईं दो अन्य कालजयी पुस्तकों *माई ऑटोग्राफी* या *मेरी कहानी* तथा *द डिस्कवरी ऑफ इंडिया* अथवा *हिंदुस्तान की कहानी* में केवल इतिहास तथा स्वाधीनता संघर्ष की गहमागहमी तथा उसमें नेहरू की भूमिका ही नहीं है, बल्कि हमें इन पुस्तकों में प्राचीन साहित्य, रंगमंच, लिपियों आदि के बारे में भी जानकारियां मिलती हैं। केवल जानकारियां ही नहीं, इन तथा ऐसे मुद्दों पर हम नेहरू के विचारों से भी रू-ब-रू होते हैं। प्रायः नेहरू की चर्चा उनकी गुटनिरपेक्षता की नीति, मिली-जुली अर्थव्यवस्था, लोकतंत्र के प्रति उनकी गहरी आस्था, आधुनिकताबोध, वैज्ञानिक सोच के प्रति उनके गहरे झुकाव तक ही सीमित रह जाती है। इन विषयों पर विभिन्न मंचों से, विभिन्न पुस्तकों में, उनके प्रशंसकों और आलोचकों ने समय-समय पर बहुत कुछ कहा और लिखा है, लेकिन साहित्य, रंगमंच, लिपियों आदि को लेकर नेहरू के दृष्टिकोण पर बहुत कम कहा और लिखा गया है।

14 नवंबर को पं. जवाहरलाल नेहरू का जन्मदिन बाल दिवस के रूप में मनाया जाता है। पं. नेहरू बच्चों में बेहद प्यारे थे। बच्चे उन्हें 'चाचा नेहरू' कहकर पुकारते थे। नेहरू जी ने स्वाधीनता-संघर्ष के दौरान अपनी जेल-यात्राओं में अपनी बेटी को लगातार कई पत्र लिखे थे। बाल दिवस के अवसर पर साहित्य के प्रति उनके सरोकार पर प्रस्तुत लेख।

नेहरू उन गिने-चुने लोगों में से थे जिन्होंने जो कुछ भी लिखा उसे अपनी अत्यंत प्रवाहपूर्ण भाषा के चलते बेहद सम्मोहनकारी ढंग से लिखा–कुछ ऐसे कि लोग कहने लगे कि नेहरू राजनीति में न आते तो महान कवि बनते। कवि यानी साहित्यकार। लेकिन ऊपर जिस 'आख़िरी पत्र' का ज़िक्र किया गया है, उसमें नेहरू विनम्रतापूर्वक स्पष्ट कर देते हैं कि 'मैं साहित्यकार नहीं हूं, और न मैं यह कहने को तैयार हूं कि जो बहुत साल मैंने जेलों में बिताए हैं, वे मेरी ज़िंदगी के सबसे मीठे साल हैं। पर मैं कह सकता हूं कि इन सालों को गुज़ारने में पढ़ाई व लिखाई से मुझे बहुत बढ़िया मदद मिली है। मैं साहित्यकार नहीं हूं और इतिहासकार भी नहीं हूं; तो सचमुच मैं हूं क्या? इस सवाल का जवाब देना मेरे लिए कठिन है।' फिर भी वे जवाब देते हैं, बड़े विनोदपूर्ण ढंग से कि 'मैं बहुत-सी बातों में टांग अड़ाने वाला रहा हूं, कालेज में मैंने विज्ञान शुरू किया, फिर कानून पढ़ा और फिर ज़िंदगी में दूसरे बहुत-से शौक पैदा करने के बाद, आख़िर जेल-यात्रा का वह पेशा अपनाया, जो भारत में खूब पसंद किया जाता है और खूब चालू है।'

ग़ौरतलब है कि नेहरू का यह कथन 1933 का है, जब स्वतंत्रता संग्राम ज़ोरों पर था और गली-गली में खादी के वस्त्र पहने तथा प्रभात-फेरियां करते लोग जेल जाने को अपना सौभाग्य मानते थे। तब जेल-यात्रा वस्तुतः एक पवित्र पेशा था, जेल-यात्राओं ने ही नेहरू को लेखक बनाया। लेखक और चिंतक भी। शायद कभी जेल में बैठे-बैठे वे एक आज़ाद भारत के बारे में सोच रहे होंगे। एक ओर उनके मन में सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत बड़े-बड़े उद्योग लगाने का विचार आया होगा और दूसरी ओर साहित्य, रंगमंच, कलाओं आदि के विकास के लिए कुछ स्वायत्त संगठन खड़े करने की सोच ने अंगड़ाई ली होगी। यही सोच स्वाधीनता के पश्चात वास्तविकता में परिणत हुई और नेहरू की पहल पर राष्ट्रीय साहित्य अकादमी, ललित कला अकादमी और संगीत-नाटक अकादमी ने रूपाकार लिया। इनकी बुनियाद इतनी ठोस रखी गई कि बीच-बीच में अपने उत्थान-पतन के बावजूद ये संस्थाएं आज भी जीवित और प्रतिष्ठित हैं, जबकि ठोस बुनियाद से वंचित, अनेक राज्यों में स्थापित, ऐसी संस्थाएं अक्सर काल-कवलित होती रही हैं। राष्ट्रीय स्तर की इन संस्थाओं के द्वार भारत की सभी भाषाओं, सभी कलाओं, सभी नाट्य और संगीत शैलियों के लिए आरंभ से ही खुले रखे गए ताकि सभी को साहित्यिक-संस्कृति की दृष्टि से विकसित होने के समान अवसर मिलें। यह नेहरू की ही सोच का परिणाम था कि

'राष्ट्रीय कला दीर्घा' जैसी कला-वीथी स्थापित हुई। इतना ही नहीं, नेहरू ने तत्कालीन सूचना और प्रसारण मंत्री को दायित्व सौंपा कि वे कार्यक्रमों में ही नहीं सरकारी सेवा में भी विभिन्न भाषाओं के लेखकों, संगीतकारों आदि को आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रों से जोड़ें। अकेले हिंदी में सुमित्रानंदन पंत, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, मोहन सिंह सेंगर, विष्णु प्रभाकर आदि अनेक प्रसिद्ध साहित्यकार समय-समय पर सलाहकार, प्रोड्यूसर जैसे पदों पर आकाशवाणी में आए। यही स्थिति अन्य भाषाओं और संगीत के क्षेत्रों में भी रही। नेहरू के साहित्य और कला आदि से संबंधित सोच में कहीं संकीर्णता नहीं थी। इसी के चलते वे पाकिस्तान में बंदी बनाकर रखे गए प्रगतिशील आंदोलन के प्रमुख स्तंभ सज्जाद ज़हीर को छुड़ाकर भारत वापस लाए, वो भी शांतिपूर्ण बातचीत के जरिए। दरअसल नेहरू के यहां वैचारिक मतभेद कभी व्यक्तिगत मतभेद में परिणत होता नहीं दिखाई दिया। यही कारण है कि कम-से-कम साहित्य और कलाओं की दुनिया में उनके विरोधी भी उनके प्रति सम्मान का भाव रखते थे। हिंदी में प्रेमचंद के बाद के तीन प्रमुख लेखक रहे हैं–जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय और यशपाल। यशपाल ने अपना उपन्यास *अमिता* जवाहरलाल नेहरू को समर्पित किया। 'समर्पण' में वे लिखते हैं–'भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा विश्व-शांति के लिए किए गए प्रयत्नों के प्रति सराहना में–भावी युद्धों की आशंका से त्रस्त और विश्व शांति की इच्छुक मानवता की ओर से समर्पित।' यह वह दौर था जब दुनिया पर तीसरे महायुद्ध की आशंका के बादल मंडरा रहे थे।

अक्सर आरोप लगाया जाता है कि नेहरू का झुकाव पश्चिम की ओर था। ऐसा आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि लोकतंत्र की आधुनिक अवधारणा पश्चिम से ही आई थी। वैज्ञानिक सोच, रिनैसां या पुनर्जागरण, राजनीतिक विचारधाराओं के विकास, औद्योगिक क्रांति आदि का श्रेय पश्चिम को ही जाता है। नेहरू ने ब्रिटेन में अपनी शिक्षा-दीक्षा के दौरान यह सब स्वयं देखा और इन सबको निश्चित रूप से आत्मसात भी किया, लेकिन उन्होंने इन सबका अंधानुकरण नहीं किया, बल्कि इनके सकारात्मक पक्षों को स्वीकार किया। इसीलिए महात्मा गांधी ने कहा था कि 'नेहरू दुनिया को देखने की खिड़की हैं' और निश्चय ही नेहरू ने पश्चिम सहित शेष दुनिया को खुले मन से देखा। जेल में लिखी गई उनकी पुस्तकों के पृष्ठ पलटने पर हम पाते हैं कि उन्होंने पश्चिम की विचारधाराओं का ही अध्ययन नहीं किया, वरन् पश्चिम के श्रेष्ठ साहित्य को भी पढ़ा। उन्होंने जर्मन लेखक ग्यूत (गेटे) का अध्ययन किया। गेटे अपने ही तक सीमित रहने वाला लेखक नहीं था, बल्कि उसने कालिदास के नाटक, *अभिज्ञान शाकुंतलम्* का जर्मन भाषा में अनुवाद भी किया था। नेहरू ने पुश्किन, विक्टर ह्यूगो, बालज़ाक, कीट्स, शेली, बायरन, वर्ड्सवर्थ, वाल्टर स्कॉट आदि का अध्ययन किया तथा लियोनार्दो द विंची और माइकेल ऐंजिलो की कला को समझा तो *रामायण* और *महाभारत* जैसे महाकाव्यों और जन-जन के बीच व्याप्त किस्से-कहानियों से भी वे गहराई से प्रभावित हुए। *हिंदुस्तान की कहानी* के अध्याय 'महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और क़िस्से-कहानी' में नेहरू *रामायण* तथा *महाभारत* का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं–मैं कहीं की किसी ऐसी पुस्तक को नहीं जानता हूं, जिसने आम जनता के दिमाग़ पर इतना लगातार और व्यापक असर डाला हो, जितना कि इन दो पुस्तकों ने डाला है। इसके बाद वे *अलिफ़ लैला, पंचतंत्र* की कहानियों, दुनिया-भर की परी-कथाओं, झांसी की रानी और राजपूतों की बहादुरी आदि का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि इन सबके उनके दिमाग़ पर तरह-तरह के असर पड़े। साथ ही वे बताते हैं–"अगर मेरा यह हाल था, जिसके दिमाग़ पर तरह-तरह के असर पड़े थे, तो मैंने अनुभव किया कि इन पुरानी दंतकथाओं और परंपरा का औरों के दिमाग़ पर, ख़ासतौर पर हमारी अशिक्षित जनता के दिमाग़ पर कितना ज्यादा पड़ा होगा। यह असर संस्कृति और नीति, दोनों ही के लिहाज़ से अच्छा रहा है और इन कहानियों और रूपकों की सुंदरता और ख़याली संकेत को बरबाद करना या फेंक देना मैं हरगिज़ पसंद न करूंगा।"

नेहरू के इन शब्दों का विश्लेषण किया जाए तो हम पाएंगे कि उन पर केवल पश्चिमोन्मुख होने का आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि नेहरू इस देश की परंपराओं से जुड़ने में विश्वास करते थे। ब्रिटिश राज में अधिकांश भारतीय निरक्षर थे, लेकिन नेहरू ने अनुभव कर लिया था कि निरक्षरता के बावजूद वर्षों से चली आ रही कथाओं-दंतकथाओं–जो प्रायः सोद्देश्य, संदेशपूर्ण थीं–का आम लोगों पर गहरा असर पड़ा तथा उनके सांस्कृतिक तथा नीतिगत विकास में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

नेहरू कुछ और गहराई में जाते हुए लिखते हैं–'हिंदुस्तान की दंतकथाएं महाकाव्यों तक महदूद नहीं हैं, वे वैदिक काल तक पहुंचती हैं और अनेक रूपों और पोशाकों में संस्कृत साहित्य में आती हैं। कवि और नाटककार इनसे पूरा फायदा उठाते हैं और अपनी कथाएं और सुंदर कल्पनाएं इनके आधार पर बनाते हैं।" यह कथन *हिंदुस्तान की कहानी* से लिया गया है। अंग्रेज़ी में *द डिस्कवरी ऑफ इंडिया* नामक वृहदाकार पुस्तक नेहरू ने अप्रैल से सितंबर 1944 के पांच महीनों में अहमदनगर किले के जेलख़ाने में लिखी थी। इसका मतलब यह हुआ कि मिथकों पर आधारित कविताओं और नाटकों की रचना उस दौर में भी की जा रही थी और नेहरू की साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि से ये ओझल नहीं हुई थीं। इसी पुस्तक में नेहरू आगे चलकर पूरा एक अध्याय 'पुराना हिंदुस्तानी रंगमंच' शीर्षक से लिखते हैं जिसमें वे यूरोपीय विद्वानों की इस धारणा का खंडन करते हैं कि भारतीय नाट्य-साहित्य की शुरुआत या तो यूनानी नाटकों से हुई या उन पर यूनानी नाटकों का गहरा असर पड़ा। अन्य अनेक विद्वानों की भांति नेहरू की भी स्थापना है कि 'हिंदुस्तानी रंगमंच अपने मूल में और विचारों और विकास में बिलकुल स्वतंत्र है।' उन्होंने यह स्थापना साधिकार और सप्रमाण की है, यह कहते हुए कि 'इसका पता लगाएं, तो हम *ऋग्वेद* तक पहुंच जाएंगे, जिसमें कुछ नाटकीय ढंग की बातचीत मिलती है। रामायण और महाभारत में नाटकों का ज़िक्र आता है।...ईसा से पहले की छठी-सातवीं सदी का मशहूर वैयाकरण पाणिनि नाटक के कुछ रूपों का उल्लेख करता है।" 1944 में लिखी गई इस पुस्तक के इसी अध्याय में एक ऐसी भी जानकारी दी गई है जो आज के नाट्य-लेखकों, नाट्यकर्मियों, नाट्य-आलोचकों, नाटक प्रेमियों आदि के लिए महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि 'हाल में छोटा नागपुर की रामगढ़ की पहाड़ियों में एक ऐसे प्राचीन नाट्यघर का पता चला है, जिसमें तारीख़ ईसा से पहले की दूसरी सदी की बताई जाती है। यह मार्के की बात है कि 'नाट्यशास्त्र' में रंगमंच का जो आम बयान मिलता है, उससे इस नाटकघर का नक्शा मेल खाता है।' इन तथ्यों से स्पष्ट है कि नेहरू भारत में रंगमंच की विकास-यात्रा को चौंकन्ने होकर देख रहे थे, सो वो भी देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की व्यस्तता और गहमागहमी के बीच। साहित्य-संस्कृति के प्रति यह चौंकन्नापन, उत्सुकता और लगाव ही उन्हें अपने समय के अन्य बहुत से नेताओं से अलग खड़ा करता है और यह ज़ाहिर करता है कि वे आज़ादी के बाद भारत को न केवल आर्थिक मोर्चे पर और विश्वशांति के अग्रदूत के रूप में ही अग्रिम पंक्ति के राष्ट्रों में खड़ा करना चाहते थे, वरन् साहित्य-संस्कृति के मोर्चे पर भी उसे अपनी विरासत से जुड़ा एक आधुनिक राष्ट्र बनाना चाहते थे। इसीलिए उनकी आधुनिकता भारत की परंपराओं से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई थी। इस माने में उनके सामने किसी

प्रकार के भ्रम की स्थिति नहीं थी। यहां तक कि लिपि के प्रश्न पर भी वे कभी भ्रम के शिकार नहीं रहे। पहले की भांति मौजूदा समय में भी कुछ लोग यह कहते हुए देखे जाते हैं कि हिंदी वालों को रोमन लिपि अपना लेनी चाहिए। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि उर्दू वाले भले ही उर्दू-फ़ारसी के शब्द इस्तेमाल करें, पर लिपि के रूप में उन्हें नागरी को अपना लेना चाहिए। नेहरू इन विवादास्पद मुद्दों पर न केवल सचेत थे, बल्कि स्पष्ट भी थे। भाषा और लिपि के प्रश्नों पर यद्यपि उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, पर यहां दो-तीन बातों पर ही ग़ौर कर लेना पर्याप्त होगा।

पहली बात यह कि नेहरू मानते थे कि रोमन लिपि ने उन्हें आकर्षित किया था, किंतु इसी संदर्भ में वे एकदम स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–"किसी भाषा के लिए, जिसका प्राचीन काल उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बड़ी क्रांति है, क्योंकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा संबंध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नज़र आएंगे, ध्वनि बदल जाएगी, आप बदल जाएंगे।" हिंदी के लिए रोमन लिपि अपनाने का तर्क देने वालों को भाषा के प्रश्न पर ज़रा इस नज़रिए से भी सोचना चाहिए। यहीं पर नेहरू और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–"लिपि बदलने का जोखिम केवल उसी भाषा में उठाना चाहिए, जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिंदुस्तान में तो ऐसे रद्दो-बदल का ख़्याल भी नहीं कर सकता हूं, क्योंकि हमारा साहित्य केवल संपन्न और अमूल्य ही नहीं, बल्कि वह हमारे इतिहास और विचार-परंपरा से संबद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा नाता रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा।" ज़ाहिर है कि रोमन लिपि के प्रति आकर्षण को नेहरू ने छिपाया नहीं, लेकिन भारत की संपन्न साहित्यिक परंपरा आदि को देखते हुए उन्होंने इस लिपि को अपनाना कतई स्वीकार नहीं किया।

दूसरी बात उर्दू बनाम हिंदी की। इस संदर्भ में ग़ौरतलब है कि महात्मा गांधी की ही भांति नेहरू भी 'हिंदुस्तानी' के पक्षधर थे। वे लिखते हैं–"मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं कि हिंदुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी।" इसमें संदेह नहीं कि अहिंदी भाषी प्रांतों में भले ही अपनी-अपनी भाषा बोली-लिखी जाती है और इस संदर्भ में देखा जाए तो हिंदी पूरे राष्ट्र की भाषा नहीं बन पाई है, लेकिन व्यापक हिंदी-भाषी क्षेत्र को देखा जाए तो वह 'हिंदी-भाषी' कहलाता भले ही हो, किंतु वहां प्रचलन 'हिंदुस्तानी' का ही है–यानी हिंदी-उर्दू का मिला-जुला रूप। दोनों में लिपियों का अंतर भले ही है, किंतु दोनों का साहित्य भी आमतौर पर 'हिंदुस्तानी' में ही रचा जाता है। इस सिलसिले में लिपि का ज़िक्र करते हुए नेहरू लिखते हैं–"लिपि नागरी हो या फ़ारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनों पक्षों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खड़ी कर दी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाए या फ़ारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते हैं कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं मालूम होता कि दोनों लिपियों को अधिकृत रूप से मान लिया जाए और लोगों को इनमें से किसी को भी काम में लाने की छूट दी जाए।" भाषा और लिपि के संबंध में दरअसल यही व्यावहारिक रुख़ और लोकतांत्रिक दृष्टिकोण है जो इस बात की ओर इंगित करता है कि नेहरू आज़ादी के बहुत पहले ही–सन् 1934-35 में जब उन्होंने जेल में बैठकर आत्मकथा लिखी–भली-भांति समझ रहे थे कि भाषा और लिपि के मामले में अत्यंत शुद्धतावादी या कट्टर रवैया नहीं चलेगा। यह भी कि वे जान और समझ चुके थे कि लिपियां तो अलग-अलग रहेंगी ही, पर चलेगी सहज-सरल भाषा ही–यानी हिंदुस्तानी। इसी संदर्भ में वे व्यंग्यात्मक स्वर में मार्के की बात कहते हैं कि "इस समय मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे ग्रुप साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्तनवादी हैं। ये अपनी भाषा के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम संपर्क है।" अपनी आत्मकथा *मेरी कहानी* में नेहरू बनारस की एक दिलचस्प घटना का भी ज़िक्र करते हैं जहां वह अपने एक बीमार मित्र से मिलने गए थे। इस मौके पर हिंदी साहित्य की एक छोटी-सी संस्था में कुछ लोगों से उनकी बातचीत हुई। इस बातचीत में नेहरू ने हिंदी में अलंकारिक और क्लिष्ट भाषा के इस्तेमाल की कड़ी आलोचना की, इसे दरबारी शैली बताया, हिंदी लेखकों को आम जनता के लिए लिखने का सुझाव दिया, उन्हें पश्चिमी विचारों और साहित्य का अध्ययन करने की सलाह दी और अनुरोध किया कि यूरोपीय भाषाओं के पुराने साहित्य तथा नए विचारों के ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया जाए। नेहरू लिखते हैं–"मैंने यह भी कहा कि संभव है, आज गुजराती, बंगला और मराठी साहित्य इन बातों में हिंदी साहित्य से उन्नत हो।" दुर्भाग्यवश नेहरू की ये बातें हिंदी लेखकों और पत्रकारों के गले नहीं उतरीं, उन्होंने नेहरू की कटु आलोचना शुरू कर दी और तब तक करते रहे जब तक नेहरू स्वाधीनता संघर्ष के सिलसिले में एक बार फिर जेल नहीं चले गए। क्या नेहरू के सुझाव ग़लत थे? क्या हिंदी साहित्यकार अपनी आलोचना भी नहीं सुन सकते? दुर्भाग्य से यह मनोवृत्ति अब तक चली आई है। हां, इतना ग़नीमत अवश्य है कि धीरे-धीरे हिंदी के अनेक उदार लेखकों ने पश्चिम के महत्त्वपूर्ण विचारों तथा साहित्य का अनुवाद करना आरंभ किया और आज भी यह काम लगातार हो रहा है।

तीसरी बात यह है कि नेहरू अंग्रेज़ी भाषा का 'ज्ञान' प्राप्त करने के सदा पक्षधर रहे। उन्हीं के शब्दों में–"बाहरी दुनिया से हमारा संबंध अंग्रेज़ी भाषा द्वारा ही रहेगा।" यह बात उन्होंने कई बार कई प्रकार से कही है। यह भी एक कारण रहा है कि उन्हें अंग्रेज़ी भाषा का सरपरस्त और पश्चिमोन्मुख मान लिया गया, जबकि उनके इस विचार को लिपियों, संस्कृतनिष्ट हिंदी और फारसी की ओर झुकी हुई उर्दू यानी क्लिष्ट हिंदी और क्लिष्ट उर्दू के बरक्स सरल हिंदुस्तानी के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। सरल हिंदुस्तानी के सिद्धांत को वे सरल अंग्रेज़ी से भी जोड़कर देखते थे, जिसे वे 'बेसिक अंग्रेज़ी' मानते थे। नेहरू *मेरी कहानी* में लिखते हैं–"इधर कुछ दिनों से 'बेसिक अंग्रेज़ी' ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेज़ी का भविष्य उज्ज्वल है।" उनका मानना था और यह सही भी है कि 'स्टैंडर्ड अंग्रेज़ी को विशेषज्ञों और कुछ खास विद्यार्थियों के लिए छोड़ देना चाहिए और हिंदुस्तान की सर्वसाधारण जनता में इस बेसिक अंग्रेज़ी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।' सौभाग्य से आज भारत में, और भारत ही क्या दुनिया के तमाम देशों में, जन सामान्य के बीच ऐसी ही अंग्रेज़ी लोकप्रिय है। मोबाइल, कंप्यूटर और उससे जुड़े इंटरनेट, ई-मेल, फ़ेस-बुक, ट्विटर आदि ने तो क्लिष्ट अंग्रेजी की धज्जियां ही उड़ा दी हैं, उसी प्रकार जैसे कि हिंदी और उर्दू साहित्य, भाषा के स्तर पर, लगातार सरल-सहज होता जा रहा है, आगे भी होगा। इसी में उसकी स्वीकार्यता निहित है।

आश्चर्य होता है यह देखकर कि स्वाधीनता-संघर्ष की जद्दोजहद के बीच भी नेहरू का रुझान कैसे साहित्य, रंगमंच, भाषा के प्रश्नों आदि की ओर लगातार बना रहा। वे अपनी पुस्तकों में न केवल शेक्सपीयर, ऑस्कर वाइल्ड, मेथ्यू आरनॉल्ड, टामस मूर, रॉबर्ट ब्राउनिंग, बायरन, गैरीबॉल्डी, शेली, गेटे,

टैगोर जैसे जाने-माने कवियों और उपनिषदों, राजतरंगिणी आदि भारतीय ग्रंथों से अक्सर काव्यांश उद्धृत करते हैं, बल्कि हिंदी संसार में तब तक अपेक्षाकृत कम जाने गए कवियों-रिचर्ड गार्नेट, स्विनबर्ग, फ्लेचर, जेराल्ड हॉपकिन्स, जॉर्ज मेरेडिथ, *गुलिवर ट्रैवल्स* के लेखक जोनाथन स्विफ्ट, चीनी कवि ली ताई पो आदि के वाक्यांशों को भी सटीक ढंग से उद्धृत करते हैं। *मेरी कहानी* में कश्मीर की हिमाच्छादित पर्वत-चोटियों की चर्चा करते हुए उन्हें सहसा वाल्टर दिलामेयर की ये काव्य-पंक्तियां स्मरण हो आती हैं–

मेरे अंतर्पट पर इन गिरिश्रृंगों की पड़ती छाया
सांध्य गुलाबों से रंजित है जिनकी भीषण दुर्गमता;
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकों पर बैठे अकुलाते
शांत-शुभ्र हिम के ये प्यासे, हैं कैसी पागल ममता।

अन्यत्र, जेल में बंद होने के बावजूद उनका कवि-मन जाग उठता है और तब वे गद्य में मानो कविता ही लिखने लगते हैं–"क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और प्रातःकाल तप्त सूर्य हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर देर से निकलता था। कहीं चित्र-विचित्र रंग का नामोनिशान नहीं था और हमारी आंखें सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का दृश्य देखते-देखते पथरा गई थीं। वे भांति-भांति के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी हो रही थीं, और जब बरसाती बादल अठखेलियां करते हुए, विविध आकारों में, भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग धारण करते हुए वायुमंडल में थिरकने लगते तो मैं पागलों की भांति आश्चर्य और आह्लाद से उन्हें निहारा करता। कभी-कभी बादलों का तांता टूटने पर जो विशाल शून्य-सा उभरता, उसके भीतर से वर्षा-ऋतु का अद्भुत दृश्य नज़र आता। उस छिद्र में से अत्यंत गहरा नीला आकाश दिखाई पड़ता, जो अनंत का ही एक भाग प्रतीत होता।" बरसाती बादलों, आकाश आदि का, जेल की कोठरी के एकांत में बैठकर मनमोहक चित्र प्रस्तुत करने से पूर्व नेहरू को एक अंग्रेज़ी कविता की ये पंक्तियां स्मरण हो आती हैं–

अहो! मेघ-मालाओं का यह, पल-पल रूप पलटना
कितना मधुर स्वप्न है, लेटे-लेटे उन्हें निरखना!

नेहरू यदि स्वाधीनता सेनानी और राजनेता बने तो साहित्य के प्रति गहरे अनुराग ने उन्हें वह सब भी बनाया जिसके चलते कई लोगों ने कहा कि वे राजनीति में न आते तो महान कवि बनते। प्रसंगवश विश्व के अनेक नेताओं-राजनेताओं की साहित्य और कलाओं के प्रति गहरी संलग्नता रही है। उन्हीं में से एक थे–हो ची मिन्ह। वियतनाम की आज़ादी के लिए संघर्षरत हो ची मिन्ह को जब 1942 में चांग काई शेक के शासन द्वारा दक्षिण चीन में बंदी बनाया गया था, तभी पंडित जवाहरलाल नेहरू को ब्रिटिश शासन ने गिरफ्तार किया। जेल में बैठे हो ची मिन्ह ने तब 'नेहरू के प्रति' शीर्षक से यह कविता लिखी थी–*मैं हूं संघर्षरत/आप हैं सक्रिय/आप जेल में हैं/ मैं हूं बंदीगृह में/दस हजार मील दूर हम/नहीं मिले हैं परस्पर/किंतु शब्दातीत हम एक-दूसरे की भावनाओं को/ समझते हैं/ समान विचार हैं हमारे बीच सेतु/ किंतु हमारा मिलन है शेष/मुझे बंदीगृह में डाला है एक पड़ौसी मित्र ने/ आपको हथकड़ियां पहनाई हैं एक शत्रु ने।* ❑

संपर्क : सी. 2/31, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-110065

बाल पत्रिकाओं का अभाव

पृष्ठ 31 से आगे

बाल-मन की सहजता और सरलता में डुबो दे। वह लिखते समय बालक बन जाए। इस सहानुभूति और समानुभूति को साध पाना आसान नहीं है। बाल साहित्यकार को लिखते समय बार-बार अपने बचपन में लौटना पड़ता है। रचनाकारों को सोचना होगा कि वे बाल-पत्रिकाओं को प्रभावशाली बनाने के लिए क्या लिखें और कैसे लिखें। उन्हें अपनी सोच को व्यावहारिकता का भी रूप प्रदान करना होगा, तभी अपेक्षित बाल साहित्य की रचना हो सकती है। साहित्य में बालक या बालिका जैसे शब्दों को डाल देने मात्र से कोई साहित्य बाल साहित्य नहीं हो जाता।

बाल साहित्य के लिए जरूरी है पारदर्शी बाल-मन की पारदर्शी भावनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति। बाल-साहित्य के लिए शोध केंद्रों की भी पूरक भूमिका होती है। साहित्यकारों के आपसी विचार-विमर्श के ज़रिए बाल-पत्रिकाओं में नवीनता भी लाई जा सकती है और नवीन बाल-पत्रिकाओं का प्रारंभ भी किया जा सकता है। बच्चों के लिए जो अच्छा साहित्य लिखा जा रहा है, उसके लिए उत्साही प्रकाशकों की भी आवश्यकता है। केवल मुनाफे के पीछे भागकर अच्छी बाल-पत्रिका नहीं निकाली जा सकती। इन बाल-पत्रिकाओं के समुचित प्रचार-प्रसार के लिए योजनाबद्ध तरीके से काम करके ही सफलता पाई जा सकती है। अच्छा हो, अगर गांवों और नगरों में हर जगह बाल-पुस्तकालय मौजूद हों, जहां बाल-पत्रिकाएं बच्चों को सहजता से सुलभ हों। हमारी संसद में पुस्तक-संस्कृति और पुस्तकालयों को लेकर हाल ही में अनेक चर्चाएं हुई हैं और पुस्तकालय-कानून बनाने की ख़बरें भी आई थीं। इन पुस्तकालयों के लिए बाल-साहित्यकारों की पुस्तकों और पत्रिकाओं के नियमित क्रय का समुचित प्रावधान होना चाहिए जिससे अद्यतन बाल-साहित्य इन पुस्तकालयों में अनवरत उपलब्ध होता रहे।

उल्लेखनीय है कि हिंदी में बाल-साहित्य का अभाव नहीं है। जो लोग हिंदी में बाल-साहित्य के अभाव की बात करते हैं, वे शायद बाल-साहित्य के प्रणेताओं की रचनाओं से अपरिचित होने के कारण ऐसा कहते हैं। अभाव और टोटका बाल-पत्रिकाओं का है। इसीलिए साहित्यिक प्रवाह के अभाव का खटका सामने आता है। आज *मदारी* और *तितली* जैसी कोई बाल-पत्रिका नहीं है जो शिशुगीतों से बच्चों का भरपूर मनोरंजन करे। आज भले ही बड़े साहित्यकार बच्चों के लिए किसी पत्रिका में कुछ लिखते हुए नाक-भौं सिकोड़ते हों लेकिन एक दौर में कवि सुमित्रानंदन पंत ने भी कुछ बाल कविताएं लिखी थीं जो कुंवर सुरेश सिंह के संपादन में प्रकाशित *कुमार* में समय-समय पर छपती रहती थीं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बाल-पत्रिकाओं के अभाव की समस्या से निजात पाने के लिए अनेक दिशाओं से प्रयास करने की आवश्यकता है। ❑

संपर्क : 2710 (भूतल), डा. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009

हिंदी के श्रेष्ठ शिशु बाल गीत

सुरेंद्र वर्मा

हिंदी के श्रेष्ठ शिशु और बाल गीतों की यदि चर्चा हो तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान लोक-साहित्य पर जाता है जिसमें न केवल अनेक लोककथाओं को पिरोते हुए बच्चों के लिए कविताएं मिलती हैं, बल्कि स्वर, लय और ध्वनि के चमत्कार से सुसज्जित बाल मन को लुभाने वाले अनेक खेल गीत भी विद्यमान हैं। बाल लोक गीतकारों ने शिशु-मानस को बहुत आत्मीयता से देखा है और उसके अनुरूप ही गीत रचे हैं। इन गीतों के रचयिताओं के नाम कोई नहीं जानता लेकिन ये बाल और शिशु गीत हिंदी समाज में बच्चों के मन को वर्षों-वर्ष से गुदगुदाते आए हैं–

अक्कड़-बक्कड़ बंबे बो/ अस्सी-नब्बे पूरे सौ
सौ में लागा तागा/ चोर निकल के भागा।

यह एक ऐसा लोक खेल-गीत है जिसे गाकर बच्चे अपना कोई भी खेल आरंभ करते हैं।

बच्चों के लिए लोक-साहित्य में चंदा को हमेशा बच्चों के मामा की तरह प्रस्तुत किया गया है और चंदा मामा को लेकर अनेक बाल तथा शिशु गीत प्रचलित हैं–

चंदा-मामा दूर के/ पुए पकाएं बूर के/ आप खाएं थाली में/ मुन्ने को दे प्याली में/प्याली गई टूट/ मुन्ना गया रूठ!

ये प्यालियां और कटोरियां जिनमें बच्चे दूध-दही-भात, मनपसंद व्यंजन खाते हैं–बच्चों के मन में बसी रहती हैं–

लल्ला लल्ला लोरी/ दूध की कटोरी
दूध में बतासा/ लल्ला करे तमासा!

या फिर–

अटकन-चटकन दही चटाकन/ मामा लाए चार कटोरी
एक कटोरी टूट गई/ मामा की बहू रूठ गई!

लोक-साहित्य अलिखित साहित्य है। पर हिंदी में लिखित बाल साहित्य का प्रारंभ हम भारतेंदु-युग से मान सकते हैं। इससे पहले बाल साहित्य के नाम पर संस्कृत से हिंदी में अनुवादित केवल *पंचतंत्र* और *हितोपदेश* जैसी कृतियां ही थीं। इनमें बेशक बच्चों की अस्मिता झलकती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रेरणा से *बाल दर्पण* (1862) तथा *बालबोधिनी* (1874) पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। इन पत्रिकाओं से ही हिंदी में बाल साहित्य का जन्म हुआ। भारतेंदु युग के प्रमुख बाल साहित्यकारों में सबसे पहले स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र का ही नाम आता है। उनकी बालोपयोगी पुस्तकों में सत्य *हरिश्चंद्र, अंधेर नगरी, बादशाह दर्पण* और *कश्मीर कुसुम* प्रमुख हैं। *अंधेर नगरी* की ये पंक्तियां आज भी बच्चों के साथ-साथ बड़ों का भी केवल मनोरंजन ही नहीं करतीं, उन्हें सोचने के लिए भी बाध्य करती हैं–

अंधेर नगरी, चौपट राजा
टके सेर भांजी, टके सेर खाजा।

पूर्व स्वतंत्रता युग, जिसे हम 1901 से 1947 तक मान सकते हैं, में हिंदी बाल साहित्य में काफ़ी बढ़ोतरी हुई। इस काल के बाल साहित्यकारों में कामता प्रसाद गुरु, मैथिलीशरण गुप्त, राम नरेश त्रिपाठी, सुखदेव चौबे, विद्याभूषण विभु, गिरजा दत्त शुक्ल, श्रीनाथ सिंह, सोहनलाल द्विवेदी, रामेश्वर गुरु आदि प्रमुख हैं। इनमें से कई ऐसे कवि/लेखक हैं जो स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े रहे और जिनमें राष्ट्रीय भावना की प्रमुखता रही। इनकी बाल कविताएं भी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थीं। सोहनलाल द्विवेदी इनमें प्रमुख कवि कहे जा सकते हैं। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का कहना था कि हिंदी में बड़े-बड़े साहित्यकार तो हैं किंतु बच्चों के माई-बाप तो केवल सोहनलाल द्विवेदी हैं। द्विवेदीजी ने राष्ट्र-भाव को विकसित और प्रेरित करने के लिए अनेकानेक बालगीत लिखे और इनमें उपदेश भी कुछ इस तरह दिया कि बच्चों का अपना स्वाद बरक़रार रहे–

हिंदी जगत में कोई भी कवि अपने को बाल कवि के रूप में स्थापित करने के लिए उत्सुक नहीं है। बड़े-बड़े कवियों ने तमाम अच्छे शिशु और बाल गीत लिखे हैं। बाल साहित्य रचा है। कुछ ने तो अपना लेखन ही बाल साहित्य से आरंभ किया है लेकिन आगे चलकर वे प्रौढ़ साहित्य की ओर प्रवृत्त हो गए।

मीठा होता ख़स्ता खाजा/मीठा होता हलुआ ताज़ा
मीठे होते गट्टे गोल/सबसे मीठे, मीठे बोल!

x x x

मैंने पाले बहुत कबूतर/ भोले-भाले बहुत कबूतर/ कुछ नीले, बैंजनी कबूतर/ पहने हैं पैंजनी कबूतर।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दौर में जिन्हें बाल और शिशु गीतकारों के रूप में प्रथम कवियों में सम्मिलित किया जा सकता है, वे हैं–श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, सत्य नारायण कविरत्न आदि। बालमुकुंद गुप्त ने 'रेलगाड़ी' नाम से एक अत्यंत सुंदर कविता लिखी–

हिस हिस हिस हिसहिस करती
रेल धड़ाधड़ जाती है
जिन ज़ंजीरों से जकड़ी है
उन्हें ख़ूब खड़काती है!

इस बालगीत में स्पष्ट ही स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करने का उपदेश भी निहित है। इस काल-प्रसंग में यदि अयोध्या सिंह उपाध्याय का नाम न

लिया जाए तो यह उनके साथ अन्याय होगा। हरिऔध एक गंभीर कवि थे, लेकिन उन्होंने कई बालोपयोगी कविताएं लिखीं। उन्हें भी हिंदी के प्रथम बाल कवियों में निस्संदेह रखा जा सकता है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता 'बंदर' शीर्षक से है–*देखो लड़को बंदर आया/ एक मदारी उसको लाया/उसका है कुछ ढंग निराला/ कानों में पहने वो बाला।*

पूर्व स्वतंत्रता युग के कुछ अन्य कवियों ने अत्यंत रोचक और बाल-मन में अपनी पैठ बनाती कविताएं रची हैं जिन्हें हम न केवल उत्कृष्ट कविताएं कह सकते हैं, बल्कि जो शिशु बाल-गीत लेखन के लिए एक मापदंड बनाती हैं। श्रीनाथ सिंह की एक कविता है–'नानी का संदूक'–

नानी का संदूक निराला/ हुआ धुएं से बेहद काला
पीछे से वह खुल जाता है/ आगे लटका रहता ताला
चंदन चौकी देखी उसमें/ सूखी लौकी देखी उसमें
बाली जौ की देखी उसमें/ ख़ाली जगहों में है ताला।

भावपूर्ण, संवेदनशील और श्रेष्ठ गीतों को लिखने में जिस कवि ने सचमुच एक 'बड़ा और युगांतर' काम किया है, वह हैं निरंकार देव 'सेवक'। उन्होंने ही शिशु गीतों की असली पहचान कराई, उनकी खूबियों पर प्रकाश डाला और साथ ही उन्हें एक आधुनिक मुहावरा दिया। उनका एक मज़ेदार बालगीत इस प्रकार है–

अगर मगर दो भाई थे/लड़ते ख़ूब लड़ाई थे
अगर मगर से छोटा था/ मगर मगर से खोटा था।

अभी तक चिड़ियां हिंदी शिशु/ बाल कविताओं में चीं चीं, चूं-चूं ही बोलती थीं। एक प्रसिद्ध कविता–*चिड़ियां हैं चीं चीं बोल रहीं/ कानों में अमृत घोल रहीं/ वे फुदक-फुदक इठलाती हैं/ वे सबका मन बहलाती हैं...!*

निरंकार जी ने चिड़ियों की बोली को एक नया आकार दिया। चिड़ियों की यह नई बोली हिंदी को अंग्रेज़ी अक्षरों और उनके संयोजन से मिली–टी-टुट टुट (T-Tut Tut)

चिड़िया कहती टी-टुट टुट, मुझको भी दे दो बिस्कुट
भूखी हूं, मैं खाऊंगी, खा-पीकर उड़ जाऊंगी!

यह वह समय था जब अंग्रेज़ी साहित्य का हिंदी पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। वस्तुतः हिंदी का सारा छायावादी साहित्य अंग्रेज़ी 'रोमेंटिसिज़्म' से प्रभावित और प्रेरित था। इसी प्रभाव में सुमित्रानंदन पंत ने यह कविता लिखी–*संध्या का झुटपुट/बांसों का झुरमुट/ थीं चहक रहीं चिड़ियां/टी वी टी टुट टुट।* ये पंक्तियां एक गंभीर कविता का अंश हैं। लेकिन लेखक निरंकार देव 'सेवक' ने चिड़ियों की इस अंग्रेज़ी बोली को स्पष्ट ही शिशु-गीत में पिरोया है।

पूर्व स्वतंत्रता युग ने यदि हिंदी शिशु/बाल गीतों के लिए एक सुदृढ़ आधार तैयार किया तो स्वतंत्रता के बाद के युग में ऐसे गीतों के लिए एक अच्छी और मज़बूत इमारत बनीं। इस युग के कवियों में दामोदर अग्रवाल, शेरजंग गर्ग, बाल स्वरूप राही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, योगेंद्र कुमार लल्ला, सूर्य कुमार पांडे, शकुंतला सिरोठिया आदि का नाम ससम्मान लिया जा सकता है। सेवक जी के बाद शिशु गीतों को और अधिक ऊंचाई पर ले जाने वालों में शेरजंग गर्ग का नाम सर्वोच्च शिखर पर है। बाल-मन को लुभाने वाले उनके नटखट और चुटीले गीत बहुत ही प्यारे बन पड़े हैं–

कितनी अच्छी कितनी प्यारी/ सब दुनिया से न्यारी गाय
सारा दूध हमें दे देती/ आओ इसे पिलाएं चाय!

और–

गुड़िया है आफ़त की पुड़िया/ बोले हिंदी, कन्नड़, उड़िया
नानी के संग भी खेली थी/ किंतु अभी तक हुई न बुढ़िया!

इन गीतों में जहां बच्चों के लिए मनोरंजन है, वहीं एक खिलंदड़ेपन के साथ विचार को प्रेरित करने वाले तत्व भी हैं। यही बात दामोदर अग्रवाल के बाल-गीतों में दिखाई देती है। उन्होंने प्रकृति के कई रंग-बिरंगे चित्र तो खींचे ही हैं–*कुछ रंग-भरे फूल/ कुछ खट्टे-मीठे फल/ थोड़ी बांसुरी की धुन/ थोड़ा जमुना का जल*–परंतु उनके गीतों में कहीं-न-कहीं विचार भी समाहित है–*सड़क पर मिले जो मुझे एक पैसा/मैं झट से उसे अपनी मुट्ठी में ले लूं/ मैं झट से उसे अपने भाई को दे दूं/ मैं झट से उसे अपनी मां को दिखाऊं/मैं सबको चलूं ले के मेला दिखाऊं....*

योगेंद्र कुमार लल्ला और सूर्य कुमार पांडे के शिशु-गीत भी उल्लेखनीय हैं। उन्हें बिना किसी विवाद के श्रेष्ठ गीतों में रखा जा सकता है। योगेंद्र कुमार लल्ला का एक गीत जो स्वतंत्रता के महत्त्व को रेखांकित करता है, इस प्रकार है–*तोते जी ओ तोते जी/ पिंजरे में क्यों रोते जी/ तुम तो कभी न शाला जाते/ टीचर जी की डांट न खाते/ फिर क्यों बोलो रोते जी!* सूर्य कुमार पांडे ने धूप को लेकर काव्य गुणों से परिपूरित एक बहुत ही सुंदर गीत लिखा है–

आकर बैठी दरवाज़े पर/ उछली पहुंच गई छज्जे पर
वह नन्ही चिड़िया-सी धूप!
लुढ़क रही कमरे के अंदर/ बैठी मस्ती से बिस्तर पर
जापानी गुड़िया-सी धूप!

वरिष्ठ कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की बालमन में पैठ देखते ही बनती है। उनकी प्रसिद्ध कविता–*इब्न बतूता/पहन के जूता* हमारा ध्यान तो खींचती ही है, बच्चों के दिल को भी आकर्षित करती है। हाल ही में इसकी प्रथम पंक्ति को टेक बनाकर एक फ़िल्मी गाना काफ़ी चर्चा में रहा और गीतकार गुलज़ार पर आरोप लगाए गए। पर मुद्दे की बात यह है कि गुलज़ार जैसे कवि भी इस गीत के आकर्षण से बच नहीं पाए। सर्वेश्वर जी का पूरा गीत इस प्रकार है–

इब्न बतूता पहन के जूता/ निकल पड़े तूफ़ान में
थोड़ी हवा नाक में घुस गई/ थोड़ी घुस गई कान में
कभी नाक को कभी कान को/मलते इब्न बतूता
इसी बीच में निकल पड़ा/ उनके पैरों का जूता
उड़ते-उड़ते जूता उनका/ जा पहुंचा जापान में
इब्न बतूता खड़े रह गए/ मोची की दूकान में।

हिंदी जगत में कोई भी कवि अपने को बाल कवि के रूप में स्थापित करने के लिए उत्सुक नहीं है। बड़े-बड़े कवियों ने तमाम अच्छे शिशु और बाल गीत लिखे हैं। बाल साहित्य रचा है। कुछ ने तो अपना लेखन ही बाल साहित्य से आरंभ किया है। लेकिन आगे चलकर वे प्रौढ़ साहित्य की ओर प्रवृत्त हो गए। हिंदी के अनेक बड़े और प्रतिष्ठित कवियों ने भी बाल-साहित्य की रचना की। इनमें मुंशी प्रेमचंद, महादेवी वर्मा, 'निराला', 'सुमित्रानंदन पंत, सुभद्रा कुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि, साहित्यकारों का नाम लिया जा सकता है। चूंकि हिंदी में बाल-साहित्य हमेशा ही दोयम दर्जे का साहित्य माना गया है, अतः बड़े साहित्यकार इससे विमुख हो गए। आज ज़रूरत है कि प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार बाल-लेखन की ओर प्रवृत्त हों और अपने को बाल साहित्यकार कहलाने में गौरवान्वित महसूस करें। ❑

संपर्क : 10 - एच. आई. जी., 1 - सर्कुलर रोड, इलाहाबाद-211001

नया सूर्य

सुरजीत

रमेश अपने माता-पिता का इकलौता और लाडला बेटा था। लाडला होने के बावजूद वह अपनी क्लास के अच्छे छात्रों में गिना जाता था। वह स्कूल में हर शनिवार को आयोजित होने वाली साहित्यिक सभा में बढ़-चढ़कर भाग लेता था। हर शनिवार को उसे 'साहित्यिक-सभा' में एक गीत गाना था। उसकी रिहर्सल करने के लिए उसके मस्तिष्क में एक बड़ी अनोखी तरकीब आई। तीसरे पहर के समय जब उसकी मम्मी बाज़ार चली गई, तो वह घर में अकेला रह गया। उसके डैडी को दफ़्तर से वापस आने में अभी काफ़ी देर थी। "बड़ा सुनहरा अवसर है!" रमेश बड़बड़ाया और ड्राइंग-रूम में आ गया, जहां टेप-रिकार्डर रखा हुआ था।

वह टेप-रिकार्डर में अपनी आवाज़ में गीत रिकार्ड करके सुनना चाहता था। उसने टेप-रिकार्डर से वह कपड़ा उठाया, जो उसकी मम्मी धूल-मिट्टी से बचाने के लिए उस पर डाला करती थी। उसने एक ख़ाली कैसेट को शुरू से लगाकर रिकार्डिंग के लिए बटन दबाया ही था कि दरवाज़े की घंटी बज उठी। वह एकदम परेशान हो गया। वह समझा कि शायद डैडी आ गए हैं। उसने जल्दी से टेप-रिकार्डर को पुनः कपड़े से ढांप दिया और कुंडी खोलने के लिए दरवाज़े की ओर भाग खड़ा हुआ।

उसने कुंडी खोली, तो दरवाज़े पर डैडी के बजाय अंकल मुरारी लाल खड़े थे। वह उसके पड़ोस में रहते थे। उनके साथ एक पक्के रंग का मूंछों वाला मोटा-सा व्यक्ति भी था। रमेश अंकल मुरारी लाल को अच्छी तरह जानता था, क्योंकि वह प्रायः उसके डैडी से मिलने आया करते थे।

"रमेश बेटा! हमारे घर में ताला लगा हुआ है। शायद तुम्हारी आंटी बाज़ार गई हैं। मुझे इस महाशय से कुछ ज़रूरी बातें करनी है। पंद्रह-बीस मिनट के लिए ड्राइंग-रूम खोल दो।" अंकल मुरारी लाल बोले।

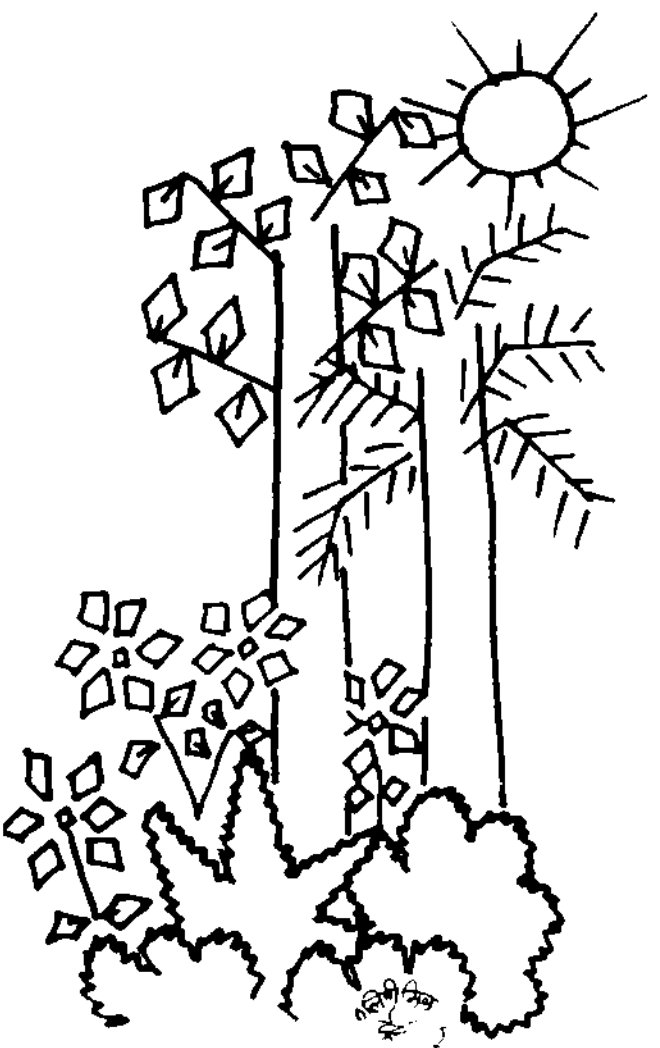
लगभग आधा घंटा बैठने के बाद अंकल मुरारी लाल और मेहमान रमेश का धन्यवाद करके वापस चले गए। उनके आने के बाद रमेश पुनः ड्राइंग-रूम में गया, तो यह देखकर हैरान रह गया कि वह जल्दी में टेप-रिकार्डर बंद करना भूल गया था। उसने कैसेट को रि-वाइंड करके शुरू से लगाया। अंकल मुरारी लाल का मेहमान के साथ सारा वार्तालाप कैसेट में रिकार्ड हो चुका था। वह आराम से बैठकर रिकार्ड हुए वार्तालाप को सुनने लगा, जो इस प्रकार था :

मेहमान : "मुरारी लाल, तुमने पहले अभियान को इतनी बुद्धिमानी और चतुराई से पूरा किया है कि तबीयत खुश हो गई। बॉस भी बहुत प्रशंसा कर रहा था। ... उसने तुम्हारे लिए और दो लाख रुपये भिजवाए हैं और अगले अभियान के लिए तैयारी करने को कहा है।"

मुरारी लाल : "देखो भई, आज की वारदात का मेरे दिमाग़ पर बहुत भारी बोझ है। यह बोझ हल्का होने में कुछ समय लगेगा।"

मेहमान : "हम कब कह रहे हैं कि अगली वारदात के लिए कल ही तैयार हो जाओ। फ़िलहाल यह रुपये लो और अगले महीने की किसी आख़िरी तारीख़ में दूसरी वारदात का प्रोग्राम बना लेना।"

मुरारी लाल : "बहुत अच्छा, अब तुम जाओ और मेरे पास पंद्रह-बीस दिन तक न आना!"



रमेश ने यह वार्तालाप सुना, तो उसकी आंखें खुली की खुली रह गईं। उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था। मुरारी लाल इतना ख़तरनाक आदमी है। वह यह सोच भी नहीं सकता था। भय के कारण उसके हाथ कांप रहे थे। कांपते हुए हाथों से उसने कैसेट निकालने का प्रयत्न किया, तो दरवाज़े पर उसे एक परछाई-सी महसूस हुई। उसने गरदन घुमाकर देखा, तो मुरारी लाल उसकी ओर बढ़ रहा था। रमेश का पूरा शरीर भय से थर-थर कांपने लगा।

कैसेट उसके हाथ से छूटकर मेज़ पर गिर पड़ा। उसने जल्दी से कैसेट उठाया और उसे पैंट की जेब में डालने की चेष्टा करने लगा।

"मैं कैसेट सुन चुका हूं। अच्छा हुआ कि मैं अपनी एनक भूल गया, नहीं तो पता नहीं क्या प्रलय आ जाती। अब तुम यह कैसेट मेरे हवाले कर दो, नहीं तो जान से मार दूंगा।" मुरारी लाल पिस्तौल की नाली का मुख रमेश की ओर करके दहाड़ा। रमेश का रंग पीला पड़ चुका था। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि क्या करे? इससे पहले कि वह कैसेट को जेब में डालने में सफल होता, मुरारी लाल ने उसके हाथ से कैसेट उचक ली और बोला–"अब तुम्हारे पास कोई सबूत नहीं है। अब यदि किसी के सामने जुबान खोलोगे, तो अपनी कीमती जान से हाथ धो बैठोगे। मैं अभी तुम्हारी आंखों के सामने इस कैसेट को आग लगा रहा हूं।" यह कहकर उसने जेब से लाइटर निकाला और कैसेट के कोने को आग लगा दी। जब कैसेट के प्लास्टिक ने अच्छी तरह आग पकड़ ली, तो मुरारी लाल ने उसे खिड़की से बाहर फेंक दिया। देखते ही देखते कैसेट जलकर राख हो गया। मुरारी लाल ने धमकी को और कठोर स्वर में दोहराया और पैर पटकता हुआ घर से बाहर चला गया।

उसके जाने के बाद रमेश ने ग़ौर से देखा, तो उसके विस्मय की सीमा न रही। मुरारी लाल के वार्तालाप वाली कैसेट बिल्कुल सही-सलामत मेज़ पर पड़ी थी। उसने दिमाग़ पर ज़ोर दिया, तो उसे याद आया कि मुरारी लाल के दोबारा आने पर वह कैसेट उसके हाथ से छूटकर मेज़ पर गिर गया था और घबराहट में उसने कोई कैसेट उठा ली थी, जिसे मुरारी लाल ने असली समझकर आग लगा दी।

शाम को उसके मम्मी-डैडी घर वापस आए तो उसने उनको कुछ नहीं बताया। रात को वह जल्दी ही सो गया।

दूसरे दिन वह स्कूल में पहुंचने के बाद सबसे पहले लाइब्रेरी में गया और ताज़ा अख़बार देखा। उसने अख़बार की सबसे पहली ख़बर देखी, तो उसको पता चल गया कि मुरारी लाल ने कल कौन-सी वारदात की थी। वह ख़बर सब्ज़ी मंडी में बम के भयानक धमाकों और दस निर्दोष व्यक्तियों के मरने के बारे में थी। वह अख़बार में छपने वाली तस्वीरें देखकर जड़वत रह गया। उसे मुरारी लाल की पैशाचिकता पर अति क्रोध आ रहा था।

मुरारी लाल को उसके अंत तक पहुंचाने के लिए न केवल उसके अपने प्राण संकट में पड़ सकते थे, अपितु उसके मम्मी-डैडी भी सुरक्षित नहीं रह सकते थे। वह बुझे हुए दिल से लाइब्रेरी से उठा और क्लास-रूम में चला गया, जहां थोड़ी देर बाद पीरियड शुरू होने वाला था। कुछ देर बाद टीचर आ गईं। उन्होंने कहा–"प्यारे बच्चो, आप जानते हैं कि आज दिसंबर की 31 तारीख़ है और आज का दिन इस वर्ष का अंतिम दिन है। कल नए वर्ष का पहला दिन होगा। बुद्धिमान लोग बीते हुए समय से शिक्षा प्राप्त करते हैं और अतीत की ग़लतियों को आने वाले समय में नहीं दोहराते। यह सच है कि जो लोग अपने अतीत से शिक्षा प्राप्त नहीं करते, आने वाला समय उनको कभी क्षमा नहीं करता!"

रमेश सदा की तरह टीचर की बातें भी बड़े ध्यान से सुन रहा था। विशेषतः उसके दिल में बैठ गई कि यदि प्राण बचाने के लिए मैंने अपना मुंह बंद रखा, तो यह मेरी इस वर्ष सबसे भयंकर ग़लती होगी और यदि मुरारी लाल ने अपना मिशन जारी रखते हुए दूसरी वारदात कर दी, तो आने वाला समय मुझे कभी क्षमा नहीं करेगा।"

उसने क्लास में बैठे-बैठे एक निर्णय कर लिया। छुट्टी के बाद उसने अपने मम्मी-डैडी और स्वयं को ईश्वर के हवाले कर दिया कि जो होगा देखा जाएगा और कैसेट लेकर पुलिस-स्टेशन की ओर चल दिया।

"अगले वर्ष नया सूर्य मुझ पर अंगुली नहीं उठा सकता!" यह सोचते हुए उसकी आंखें उल्लास से चमक रही थीं। ❑

संपर्क : सी-34, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015

दीप पर्व : पांच कविताएं

अशोक विश्वकर्मा

एक

रोशनी अपने नएपन को लेकर
आज अंधेरों से कुछ कहेगी
और चारों ओर बिखरेंगी
पुराने दिनों की बतलड़ियां

दो

दीप की चकाचौंध
और दीवारों की परछाइयां
सभी के बीच
दीपावली सिमटी-सिमटी होगी

तीन

कैसे आवाज़ दें
पटाख़ों के बीच कोई कैसे सुनेगा
कि हमारे पास नहीं है
फुलझड़ी के लिए पैसा

चार

नये कपड़ों का रिवाज
इस बार भी दीपावली पर रहेगा
पर उन्हीं के घर में
जिनके पास अभी भी कपड़े हैं

पांच

अनारदाने, सिंघाड़े, लाई और जाने
क्या-क्या
याद नहीं पड़ता
सबके लिए
मां की आंखों में रोशनी होगी!

संपर्क : अधारताल, जबलपुर-482004

अब लोरियां नहीं उतरतीं माताओं की जिह्वा पर

मृदुला सिन्हा

सांध्य ढल रही हो। आंगन या ओसारे स्थित चुल्हे से धुआं उठ रहा हो। युवा महिलाएं भोजन बना रही हों। बड़ी उम्र की दादी-परदादी ओसारे में रखी खाट या तख़्त पर बैठी हो। भोजन बनाती महिला अपने छोटे शिशु को सास या दादी सास की गोद में रख आती है। शिशु को गोद में लेते ही दादी उसे थपकी देने लगती है। उसके कंठ से कुछ पंक्तियां रिसने लगती है। शिशु थपकियों की स्पर्श से अधिक सस्वर गाई जा रही उन पंक्तियों से प्रभावित होता है। दादी यदि गाना भूल जाए तो शिशु उसके मुंह में अंगुली डालता है। वे गीत जिसे 'लोरी' कहा जाने लगा, था ही इतना सरस। लोरियों की उत्पत्तिकाल का पता लगाया ही गया होगा। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि वाचिक परंपरा का यह साहित्य समाज की उत्पत्ति से पूर्व का ही होगा।

जन्मजात शिशु को थपकी देकर सुलाने का स्त्रियों को अभ्यास था। पुरुष लोरी नहीं गाते। मां के गर्भ में शिशु बंधन में पड़ा होता है। इसलिए बाहर निकलने पर भी उसे मां के शरीर का स्पर्श और बंधन चाहिए। बच्चा के गोद में आते ही कभी नहीं गाने वाली माताएं भी गुनगुनाना प्रारंभ करती है। सभी मातृभाषाओं में गाए जाने वाली लोरियों के भाव एक ही होते थे। उनमें थोड़ी-बहुत क्षेत्रीयता की झलक भी आती थी।

लोरी होती तो बच्चों को सुलाने के लिए, पर इन गीतों के भाव गहरे होते हैं। उनमें उस समाज का इतिहास और भूगोल तो रहता ही है, सामाजिक चेतना के स्वर और रिश्तों की तासीर भी वर्णित रहते हैं। मां की मनसा, उसकी तमन्ना, बच्चे से उसकी अपेक्षाएं भी लोरियों में प्रगट होती है। भोजपुरी और मैथिली भाषाओं की छान-पड़ताल करने पर उन लोरियों की सांस्कृतिक समृद्धि का अंदाज़ा लगता है। मन में एक भय पैदा होता है कि क्या इन लोरियों को विसरा कर हम अपनी संस्कृति के प्रति विश्वास पैदा कर पाएंगे! भोजपुरी और मैथिली भाषा की एक प्रमुख लोरी है–

निनिया अइलई बिरन वन से
बबुआ हमर अइलई ममहर से
आ आ गे निंदिया, बबुआ के सुता

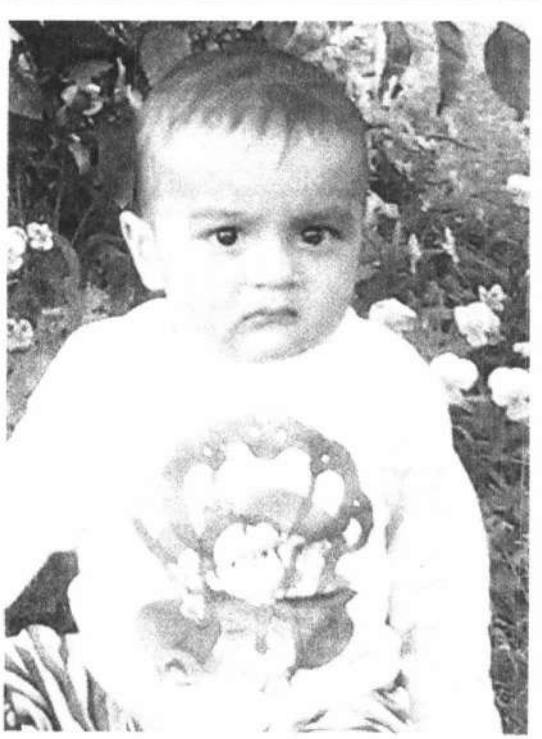
एक विशेष स्वर में थपकी के साथ गाई जाने वाली यह लोरी शिशु को सुला देती है। संभवतः उसकी नींद में भी मां के स्वर-ताल गूंजते होंगे। संभवतः शैशवावस्था में पाए वह स्नेहिल स्पर्श और लोरी के स्वर-ताल व्यक्ति आजीवन भुला नहीं पाता। उसे मां का स्वर हमेशा शांति और सुख प्राप्त कराता है। कठिनाइयों से लड़ते समय संबल प्रदान करता है। दरअसल जैसे मां के दूध से पोसा कर बच्चे का शरीर पुष्ट होता था वैसे दूध के साथ-साथ गाई जाने वाली लोरी से उसका मन-मस्तिष्क पुष्ट होता है। जीवन का पहला मधुर गान है लोरी–

चंदा मामा, आरे आव पारे आव,
नदिया किनारे आव
सोना के कटोरिया में, दूध-भात लेले आव
बबुआ के मुंह में घुटूक

मांओं द्वारा गाई जाने वाली लोरियों में उनके मायका की प्रधानता होती थी। ब्याहकर ससुराल आने पर पूरी ज़िंदगी वह ससुराल में रहती है। पर अपने मायके को हर पल प्रमुख बनाती रहती है। बबुआ के मामा-मामी तो प्रमुख होते ही हैं। छत पर बैठा कौआ भी बच्चे के मामा से दूध-भात मांग लाता है। चांद भी मामा है, चाचा नहीं। मामा इसलिए कि वह मां का भाई है–

चंदा मामा दूर के, पूए पकाए गुड़ के
आप खाए थाली में, मुन्ने को दे प्याली में
प्याली गई टूट, मुन्ना गया रूठ
लाएंगे नई प्यालियां,बजा-बजा के तालियां
मुन्ने को मनाएंगे, हम दूध-मलाई खाएंगे

लोरी की संख्या और प्रकार तो बहुत होंगे। भिन्न-भिन्न लोरियों के भाव अलग-अलग हैं। यह भी सही है कि भोजपुरी, मैथिली, अवधी और अन्य भाषाओं में भी भाव और विषय एक ही है। यह तो निश्चित है कि हर मातृभाषा में गाए जाने वाली लोरियों के विषयवस्तु और भाव एक हैं। यह बात दुःखद है कि अब शिशुओं को लोरियां सुनने को कम मिलती है। ग्रामीण जीवन में लोरियां सुनाई जाती हैं पर शहरी जीवन की आपाधापी में इतनी निश्चिंतता किसे नसीब है! न दादी-नानी, न मां, न शिशु, किसी को लोरी सुनाने-सुनने का समय नहीं मिलता।



उड़ने खटोले पर चढ़ मुन्ना मामा के घर जाएगा
मामा संग-संग खेल-खेल अपना मन बहलाएगा
खेलकूद के जब मेरे मुन्ने का दिल भर आएगा
ठुमुक-ठुमुक मेरा मुन्ना, वापस घर को आएगा।

फिल्मी गीतों में भी लोरी को प्रमुखता से लिया जाता था। उनके भाव, स्वर और शैली भी वही होते थे जो मां द्वारा गाए जाने वाले सुमधुर और अर्थवान लोरियों के।

धुधुआ मन्ना, उपजे धन्ना
बबुआ के गढ़ा देवो कान दुनू सोना
यही माहे अबइछत बबुआ के नाना
बबुआ के गढ़ा देतन कान दुनू सोना
गे बुढ़िया माई धएले रहिहे
बबुआ हमर अतऊ लाठी लेले, एक रोटी देतऊ,
आधा रोटी खइहे, आधा रोटी खिअइहे
नयका घर उठे, पुरना घर गिरे

उपरोक्त लोरी में लेटी हुई महिला अपने शिशु को पांवों पर रखकर ऊपर-नीचे उठा-गिराकर खेलाते और सुलाते हुए धान उपजने की तमन्ना व्यक्त करती है। उस क्षेत्र में धान प्रमुख फ़सल मानी जाती थी। पर्व-त्योहार, शादी-ब्याह, ख़रीद-फ़रोख़्त की खुशियां धान की फ़सल पर ही निर्भर करती थीं। बच्चे के दोनों कानों में सोने की बाली गढ़ा देने की तमन्ना हमारी परंपरा को उजागर करती है। लड़का हो या लड़की, दोनों के कर्ण छेदन संस्कार होते थे। नाना ही सोना देते थे। ये सारे रीती-रिवाज इसलिए भी थे कि दोनों परिवार अंत समय तक स्नेह बंधन में बंधे रहें। लड़कियों को पिता की संपत्ति (खेत) में हिस्सा नहीं मिलता था। इसलिए सभी विधि-विधान में नाना और नानी की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी और उनके द्वारा उपहारों का दिया जाना भी।

उपरोक्त लोरी के सादे शब्दों में बड़ी बात कह दी गई–

'पुरनका घर गिरे, नयका घर उठे।' भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है 'पुरानी नींव, नया निर्माण।'

सुतु-सुतु बबुआ, सुपली में ढेउआ (पैसा)
बाप गेल नौकरी, मतारी असगरूआ (अकेले)

जीविका की तलाश में भोजपुरी और मैथिली भाषी क्षेत्र से बड़ी संख्या में पुरुषों का पलायन होता रहा है। महिलाएं परिवार के साथ अकेली रह जाती थीं। उनके मनःस्थिति और दिनचर्याओं का वर्णन लोकगीतों में भी मिलता है। लोरी में भी मां के अकेलेपन का वर्णन है। बच्चे से मां कह रही है–"जल्दी सो जाओ, बाप तुम्हारे नौकरी करने बाहर गए हैं, मैं अकेली हूं। मुझे सारा काम अकेले निपटाना है–*दाइ-दीदी-दाई-दाई हंसुआ दे/ से हंसुआ काहेला, खड़ही कटाबेला,/ से खड़ही काहेला, बंगला छबाबेला/ से बंगला काहेला, गऊ ढुकावेला,/ से गाय काहेला, गोबरा परावे ला।/ से गोहरा काहेला, अंगना निपाबेला/ से अंगना काहेला, गेहूंआ सुखाबेला/ से गेहूंआ काहेला, पूरिया पकावेला/ से पूरिया काहेला, भौजी के खाएला/ से भौजी काहेला, बेटवा बिआयला/ से बेटवा काहेला, गुल्ली-डंडा खेलेला/ गुल्ली-डंडा टूट गेल, बउआ रूठ गेल।।*

उपरोक्त लोरी में दादी, हंसुआ, खड़ही, बंगला, गाय, गोबर, अंगना, गेहूं, पूरी, भौजी, बेटा-बेटी और गुल्ली-डंडा का संबंध बताया गया है। हंसुआ से खड़ (घास) काटना, बंगला छवाना, गाय को उसमें घुसाना, उसके गोबर से आंगन लीप कर गेहूं सुखाना और भौजी (भाभी) को पूरियां खिलाकर उसके द्वारा बेटा (संतान) पैदा करने की अपेक्षा का वर्णन है। इस लोरी में यह सपष्ट है कि नई-नवेली औरत का मान तभी बढ़ता है जब वह संतान पैदा करती है। बबुआ के गुल्ली-डंडा खेलने और उसके टूटने पर बबुए के रूठने का भी वर्णन है–

अट्टा-पट्टा, बबुआ के पांच बेटा
एक गइया, दूसर
खरबा खाइते, पनिया पीते, गुदगुद-गुदगुद

उपरोक्त लोरी शिशु की नन्हीं हथेली पर अपनी हथेली से थाप मारकर गाया जाता है। बबुवा की पांच अंगुलियों को एक-एक कर गिनती कर पांच बेटे होने की अपेक्षा की जाती है–*जिन्हीं बाबुल देखि सिहइहें/ तिन्हि नइजी बिअइहें/ बिअहू के बिभइहें/ ते मेघुत्री बिअइहें।*

उपरोक्त लोरी में बुरी नज़र से देखने वाली महिला को श्राप दिया जा रहा है कि वह बुरी नज़र वाली महिला आदमी का बच्चा नहीं, जानवरों के बच्चे जन्मेगी–*आजा आजी केंथू के?/ सोने के कि माटी के?/ आजा आजी सोने के?/ पितिआ पितंवर के?/ लोग बिराना माटी के?*

बबुआ के आजा-आजी (दादा-दादी) सोने के हैं। चाचा पीतल का है और दूसरे लोग माटी के हैं।

बाबू, बाबू कहिला, चनन ले रगरीला
चनन भइले थोरा, मोर बाबुल के मुंह गोरा
अंखिया रटनारी, महुंआ सोहे कारी
बाबू के चोरनी महतारी, चटक महतारी।

उपरोक्त लोरी में बच्चे को बाबू कहते हुए चंदन रगड़ने की बात है। चंदन लगाकर बच्चे का मुख गोरा, भौं कारे-कारे और आंखें रतनारी हैं। इसे सुनकर लगता है कि दादी ही सुना रही है लोरी क्योंकि मां को चोरनी और चटक कह रही है। यह मज़ाक ही है।

अनर मनर पुआ पाकेला, चीलर खोइछा नाचेला
चिलरू गइले खेत-खलिहान, ले अइले तिलढिया धान।
ओही धान के रिन्हली खीर, नेवति अइलीं बामन वीर
बमना के बेटवा दिहले असीस, जिउसु बचवा लाख बरीस।

धान काटने, पुआ पकाने, ब्राह्मण को न्योता देकर खीर और पुआ खिलाने तथा उनके मुंह से बच्चे को लाख बरीस जीने का आशीष मिलने की बात कही जा रही है।

लोरी की संख्या और प्रकार तो बहुत होंगे। भिन्न-भिन्न लोरियों के भाव अलग-अलग हैं। यह भी सही है कि भोजपुरी, मैथिली, अवधी और अन्य भाषाओं में भी भाव और विषय एक ही है। यह तो निश्चित है कि हर मातृभाषा में गाए जाने वाली लोरियों के विषयवस्तु और भाव एक हैं। यह बात दुःखद है कि अब शिशुओं को लोरियां सुनने को कम मिलती है। ग्रामीण जीवन में लोरियां सुनाई जाती हैं पर शहरी जीवन की आपाधापी में इतनी निश्चिंतता किसे नसीब है! न दादी-नानी, न मां, न शिशु, किसी को लोरी सुनाने-सुनने का समय नहीं मिलता। दादी-नानी के साथ नहीं रहना एक और कारण है।

लोरियों को खोकर हम बहुत कुछ खो रहे हैं। ❑

संपर्क : पी.टी. 62/ 20, कालकाजी, दिल्ली-110019

पंजाबी लोरियां : परंपरा और वर्तमान

दर्शन सिंह 'आशट'

लोरी को दुनिया का पहला लोक-गीत माना जाता है। इस बारे में प्रचलित धारणा यह है कि जब दुनिया में मां ने पहली बार बच्चे को जन्म दिया होगा, उस समय उसने (मां) बच्चे को अपने सीने से लगाकर उसका मन बहलाने के मकसद से अपनी तरफ़ से ही मीठी लोरी बनाकर उसके कानों में घोली होगी। यह लोरी उसके मन से वात्सल्य रस के प्रेम और प्रभाव में खुद-ब-खुद उत्पन्न हुई होगी। इस लोक-काव्य रूप की मिठास के सामने साधारण लोकगीत भी फीके-फीके से लगने लग जाते हैं। बालज़ाक ने भी इस धारणा से अपनी सहमति प्रकट करते लिखा था–"दुनिया का सबसे मीठा गीत वह लोरी है, जो हम पैदा होने के बाद से ही मां के मुंह से सुननी शुरू कर देते हैं।

हिंदी साहित्य कोश में, 'लोरी' का अर्थ विस्तार करते हुए इस रूपाकार को ऐसे परिभाषित किया गया है, "लोरी में कोई-न-कोई अर्थ छुपा रहता है। भारत में लोरी के द्वारा नींद को बुलावा दिया जाता है, *जैसे आ जा नींदिया, मेरे लाल के नैनों में घुल-मिल जा*। मानक हिंदी कोश के अनुसार, "वह गीत, जो स्त्रियां छोटे बच्चों को सुलाने के लिए गाती हैं, लोरियां हैं।" प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय निरंकार देव सेवक का मानना है, "लोरी की कोई निश्चित परिभाषा न बन पाने के कारण ऐसे सब गीतों को हम लोरियों के अंतर्गत ले सकते हैं, जिनमें माताओं की बच्चों के प्रति मोह-ममता के साथ-साथ सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।"

> *पंजाबी लोरियों में रिश्ता-नाता प्रणाली प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती है। चाहे पंजाबी लोरियों में और बहुत से रिश्ते-नाते के नाम भी आते हैं, किंतु जो अहमियत मां के रिश्ते को प्राप्त है, वह दूसरे रिश्तों को नहीं। बच्चा सामाजिक रूप से सबसे पहले मां के रिश्ते को स्वीकार करता है। मां के संकेतों, उसकी तोतली बातों को अपने मानसिक अवचेतन का अंग बनाकर उस बीच के अर्थ और भावनाओं के बारे में सोचने-समझने लगता है। वह लोरी के छिपे अर्थों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है।*

विश्व में प्रत्येक धर्म का अपना कायदा और अनुशासन है। गुरमति आशे मुताबिक लोरी का पारिभाषिक दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए ईश्वर को बच्चा तसव्वुर (कल्पना) करके लोरी देना अपराध माना गया है, "बच्चे को सुलाने की ग़रज़ से जो स्त्रिया मुख से एक स्वर अलापती हैं और हाथ अथवा झूले पर बच्चे को झुलाती हैं, इसका नाम 'लोरी' है। सबसे बड़ा अपराध यह है कि ईश्वर को बच्चा जानकर लोरी देते हैं...सगल पराध देहि लोरोनी....।" कान्ह सिंह के अनुसार, "लोरी धातु का अर्थ 'बालक' के लालन (लाड़ लड़ाना) और सुलाने के लिए स्वर का अलाप है।" प्रसिद्ध (लोकधारायी विद्वान एस.एस. वनजारा बेदी का दृष्टिकोण अलग प्रकार का है। उसके अनुसार, "माएं या बहनें छोटे बच्चे का मन बहलाने के लिए या रोते हुए को चुप कराने के लिए कुछ पंक्तियां अलापती हैं, जिनमें मां की पुत्र के प्रति उम्मीदें और आकांक्षाएं झलकती हैं।" जबकि लोकधारायी शास्त्री करनैल सिंह थिंद ने लोरियों को लोकगीतों के साथ तुलना करते हुए लिखा है, "लोरियां पंजाब के ऐसे लोकगीत हैं, जो मां या बहन के द्वारा रोते बच्चे को चुप कराने, मन बहलाने और सुलाने के लिए गाए जाते हैं।" पाकिस्तानी पंजाब (यानि लहदे पंजाब) के पंजाबी साहित्यकार सज्जाद हैदर के अनुसार, "इस सादा परंतु कदीमी लोक गीत में ज़ज्बा और ईमान का रंग भी विशेष रूप से शामिल होता है, जिस कारण एक मुसलमान घराने में पैदा होने वाले बच्चे के कानों में 'अज़ान' के बाद सबसे पहले लोरी का वासता देते हुए खुदा और उसके रसूल का नाम पड़ता है।"

पाकिस्तान में ही पंजाबी लोकगीतों की तहक़ीक़ (खोज) और तनक़ीद (आलोचना) से जुड़े प्रतिबद्ध (लेखक डा. असलम राणा का कहना है, "लोरी मां और बहन का गीत है। यह मां के मुक़द्दस जज़्बों की आवाज़ और बहन की रूह की पुकार है। लोरी दुनिया-भर के गीतों में से सबसे मीठा गीत है। इसमें मां की दुआएं और बहन की उम्मीदें छुपी हुई होती हैं।"

अब्दुल ग़फ़ूर दर्शन की धारणा यह है कि 'लोरी' आमतौर पर उस नन्हे-मुन्ने से गीत को कहा जाता है, जो मां अपने बच्चे को सुलाने के लिए गोदी या झूले में डालकर गुनगुनाती है। यही वह आरंभिक मौसीकी और शायरी है, जिसको बच्चा होश संभालने से पहले सुनता है। मकसूद नासर चौधरी के अनुसार "लोरी वह मीठा गीत है, जिसको बच्चा अपनी ज़िंदगी के पहले दिन मां के मुंह से सुनता है। बच्चे की पैदाइश के साथ मां की रोज़ाना ज़िंदगी हरकत में आ जाती है। बच्चे से लाड़-प्यार करना, पुचकारना, बुलाना ज़रूरी हो जाता है, तो मां लोरी का सहारा लेती है।"

पंजाबी लोक-मन कुंआरी ननद किसी बरतन या कटोरी में मीठे चावल और हल्दी को पानी या गऊ-मूत्र में घोलकर हरे घास की गुच्छी, जो पैदावार (उत्पत्ति) का चिन्ह समझी जाती है, अपनी भाभी की छाती धोती है। इसके बाद नवजात शिशु को मां का दूध पिलाया जाता है। भाभी की ओर से अपनी ननद को उपहार के रूप में नगदी, सूट या गहना भेंट किया जाता है। कुछ दशक, पहले तो इस कार्य के लिए उसे भैंस या गाय भेंट स्वरूप दे दी जाती थी, जिसको वह विवाह के समय अपने ससुराल ले जाने का अधिकार रखती थी। इसके बाद नवजात शिशु को बुरी आत्माओं से बचाने के लिए मोतियों और घुंघरुओं वाली काली डोरी की तगड़ी कमर पर बांधी जाती है। माथे पर काला टीका लगाया जाता है। रात के समय जब नवजात शिशु की बड़ी बहन अपने छोटी भाई यानि 'गीगे' को गोद में लेकर अपनी खुशी भरी भावनाओं का इज़हार इन लफ़्ज़ों से करती है तो घर का माहौल और खुशगवार हो जाता है। *धन-धन वे वीरा भैण तेरी, जिस तू गोद खिडाया।* (भैया, तुम्हारी बहन

सौभाग्यशाली है जो तुमको अपनी गोद में खिला रही है)

इसके बाद बच्चे को लोरियां देने का सिलसिला प्रारंभ हो जाता है। लोरी का नींद से गहरा रिश्ता होता है। मांओं की ओर से नींद को बुलाने के लिए तरह-तरह के लोभ-लालच भी दिए जाते हैं। भारत में लोरियों की परंपरा बहुत पुरातन समय से चली आ रही है। लोरियों के आदिकवि सूरदास ने नन्हे-मुन्ने कृष्ण भगवान को झूले में सुलाते मां यशोदा के ममतामयी वचनों को लोरी का रूप दे दिया है। इसमें नींद का मानवीकरण किया गया है। मां यशोदा नींद से संवाद रचाती हुई उसको शीघ्र आने को कहती है क्योंकि उसका बाल कृष्ण उसको बुला रहा है–

मेरे लाल की आउ निदरिया, काहे न आन सुलावै।।

तू काहे न बेगि सी आवै, तोको कान्ह बुलावै।।

पंजाबी बाल साहित्य के दौर में जब भी लोरियों की परंपरा की बात चलती है, तो 13वीं सदी में पैदा हुए सखी सरवर (असल नाम सैयद अहमद) का जिक्र खुद-ब-खुद आ जाता है, जिसकी लोरियां बहुत मकबूल हैं।

बच्चे को लोरी केवल घर-परिवार, ददिहाल-ननिहाल या पड़ोस की स्त्रियों द्वारा ही नहीं दी जाती बल्कि कई पेशेवर जातियां भी बच्चे को लोरी देकर उसकी सुख-समृद्धि की दुआ करती हैं। इन पेशेवर जातियों में किन्नर और भराई शामिल हैं, जो गीत-संगीत वाला वातावरण पैदा करके बच्चे को गोद उठाकर लोरियां गाते हैं और बच्चे (लड़के) के माता-पिता से बधाई या 'लाग' लेते हैं। 'लाग' दाई, नाई इत्यादि जाति की औरतें और घर का काम करने वाली औरते भी मांगती हैं, परंतु वे लोरियां नहीं गातीं।

पंजाब के किन्नर शहरों और कस्बों में डेरों (समूह) के रूप में रहते हैं। लड़के वाले के घर लोरियां गाकर अपनी खुशी उस परिवार से बांटते हैं। बच्चे को गोद में उठाकर नाचने वाला किन्नर लोरी गाता है और बाकी के किन्नर उन बोलों को दुहराते हैं–*इहनू बिसमिल्ला दी लोरी ते इहनू लालां दी लोरी / ते इहनू ला इल्हा दी लोरी।* और फिर *लोरी लाल नू दियां/ मैं जमदे बाल नू दियां।* (मैं नन्हे-मुन्ने या नवजात बाल को लोरी देती हूं)

'भराई' भी बच्चों को लोरियां देकर उनके लिए बधाई मांगते हैं। 'भराइयों' की ओर से ढोल बजा कर लोरी दी जाती है। कई बार इनकी ओर से किसी औरत, जिसके अभी बच्चा नहीं हुआ या होने वाला है, की ओर से सखी सरवर के आगे बेटे के लिए दुआ मांगते हुए लोरी गाई जाती है–*देवां लोरियां / मावां पुत्तर जे प्यारे। / देवां लोरियां/ लालां वालियां (सखी सरवर) दे मैनूं बच्चा,/ मोहरां वंडदी आवां।* (हे लालां वाले पीर! मुझे बेटा दो। फिर मैं सोने की मोहरें बांटती हुई आऊंगी। पहले पीर को सलाम करूंगी फिर चश्मे पर स्नान करूंगी। हे पीर! मुझे पुत्र-दान दे।)

इनकी लोरियां संगीत से युक्त माहौल पैदा करके बच्चे को मानसिक खुशी प्रदान करती हैं लेकिन 'आधुनिकीकरण' ने किन्नरों को भी प्रभावित किया है, जिस कारण वे कुछेक लोरियां देने के बाद ही आजकल के प्रचलित पंजाबी गाने या हिंदी फिल्मों के गाने गाने लग जाते हैं।

इस प्रसंग में ये बात स्पष्ट हो जाती है कि बच्चे को लोरी चाहे मां दे, जहां तक लोरी से संबंधित विषयवस्तु का ताल्लुक है, इनमें रोजमर्रा की जिंदगी के नैतिक मूल्य और आम व्यवहार ही दृष्टिगत होते हैं। लोरियों में मनुष्य के जीवन से संबंधित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक, प्राकृतिक या कोई और विषय या क्षेत्र शामिल हो सकता है, किंतु मां को यह भलीभांति ज्ञात होता है कि उसका बच्चा न तो लोरी के अर्थों को समझने के योग्य हुआ है और न ही वे इस लक्ष्य के लिए गाई ही जाती हैं कि बच्चा उसके अर्थ समझ सके। लोरियों का उद्देश्य तो संगीतयुक्त स्नेह और ममता है, जिसका आनंद उठाते हुए बच्चा गहरी नींद के वाहन पर सवार हो जाता है।

लोरियों में पंजाबी जन-जीवन के बहुआयामी दर्शन होते हैं क्योंकि प्राचीन काल से ही पंजाब का आर्थिक ढांचा खेतीबाड़ी पर ही केंद्रित रहा है, इसलिए लोरियों में भी खेती-बाड़ी, इससे संबंधित साज़ो-सामान, फसलें और कार्य-व्यवहार के बारे में भी जाने-अनजाने ज़िक्र मिलता रहता है। असलम राणा ने सांझे पंजाब के संदर्भ से लोरियां में प्रस्तुत होने वाले विषय पर प्रकाश डालते हुए अपना दृढ़ निश्चय प्रस्तुत किया है, "सबसे पहली बात यह है कि इन (लोरियों) में अनाज के बारे कुछ-न-कुछ अवश्य कहा जाता है...। लोरियों में दूसरा नाम पशु धन का आता है और यह चीज भी उसी बात की ओर इंगित करती है.....पशु को धन कहा जाना यह बताता है कि उस समय इनका कितना अधिक महत्व होता करता था।....पुराने समय में पशुओं का बड़ा महत्व हुआ था, लोग उनसे बड़ा स्नेह रखते थे।" असलम राणा की इस बात की गहराई में जाकर देखें तो खेतीबाड़ी, पशुधन और अनाज या अन्य खाने-पाने की वस्तुओं की अगुआई करने वाली अनेक लोरियां आज भी पंजाबी भाईचारे का अंग बनी हुई हैं। इस संदर्भ में एक लोरी प्रस्तुत है, जिसमें पंजाब की समूची सामाजिक, आर्थिक, सभ्यक और संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था झलकती साफ़ नज़र आती है।

अल्लड़-बल्लड़ बावे दा, / बावा कणक लयावेगा।

बावी बहि के छट्टेगी, / छट्ट भड़ोले घतेगी।

इस लोरी में जहां पंजाबी सभ्यता की झलक दिखाई देती है, वहीं इसमें अल्लड़-बल्लड़ (बाल नायक का काल्पनिक नाम) का बड़ा होकर खेत में गेहूं का बीज बीज कर फसल उगाना, उसकी देखरेख करना और फ़सल पक जाने के बाद दाने निकाल कर घर लाने की जिम्मेदारियां निभाने का ज़िक्र है और बावे अर्थात् लोरी वाली बच्चे की बावी अर्थात् भविष्य मे बनने वाली उसकी पत्नी उस अनाज को संवार के सुरक्षित अनाज भंडार (भड़ोले) में रखने और उसकी छटाई का काम करेगी। जगजोत सिंह छाबड़ा ने समाज में इन आर्थिक संबंधों को समाज में तबदीली लाने के लिए उपयोगी घोषित किया है। उनके अनुसार, "इन संबंधों की संचालक शक्ति प्यार हैं क्योंकि एकता और भाईचारा प्यार बिना कोई अर्थ नहीं रखते।"[10]

पंजाबी लोरियों में रिश्ता-नाता प्रणाली प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती है। चाहे पंजाबी लोरियों में और बहुत से रिश्ते-नाते के नाम भी आते हैं, किंतु जो अहमियत मां के रिश्ते को प्राप्त है, वह दूसरे रिश्तों को नहीं। बच्चा सामाजिक रूप से सबसे पहले मां के रिश्ते को स्वीकार करता है। मां के संकेतों, उसकी तोतली बातों को अपने मानसिक अवचेतन का अंग बनाकर उस बीच के अर्थ और भावनाओं के बारे में सोचने-समझने लगता है। वह लोरी के छिपे अर्थों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। मां की ओर से बच्चे को सुलाने के उद्देश्य से दी जाने वाली अग्रलिखित लोरी बहुआयामी पंजाबी रिश्तों संबंधी जान-पहचान करवाती है।

सो जा राजा, सो जा वे

तेरा बापू आया वे।

खेल खिलौने लगाया वे,/ सो जा राजा, सो जा वे। (बेटा, तू सो जा। तेरा पिता तेरे लिए खिलौने लेकर आए हैं।)

रिश्ता-नाता प्रणाली में कई बार मां का अपनी ननदों से व्यवहार कुछ कठोर भी हो जाता है, क्योंकि बेटे की बुआ होने के नाते भी कई बार वे अपने भतीजे को खिलाती नहीं। मां की यह शिकायत शिकवा भी उसके द्वारा दी गई लोरी में से झलक ही पड़ती है। लोरी में मां रोते बच्चे को चुप करवाने के लिए उसकी सभी बुआ के नाम लेकर उनको धिक्कारती हुई एक प्रकार

की शिकायत ही करती है क्योंकि वे बच्चों को खिलाने में टालमटोल करती हैं। पति के रूखे व्यवहार का वर्णन भी इस लोरी से स्पष्ट होता है– *भड़ोलियों कढ़दां खंड,/ आलियों कढ़दां घिओ।/ चुक बनाइयां पिन्निया,/ खाए मुंडे दा पिओ।* (नै मिट्टी के बरतन से चीनी और दीवार में बने आले से घी निकाल कर पिन्नी (लड्डू जैसी मिठाई) बनाई लेकिन उसे बच्चे का पिता ही खा गया।)

लोरियों में ननिहाल वालों का विशेष महत्व होता है। पंजाबी लोरियों में नानी, मामी और मासी का ज़िक्र आम है। यद्यपि बच्चे की मां के मायके अर्थात् बच्चे के लिए ननिहाल, बच्चे का जन्म होते ही अपनी बेटी के लिए पंजीरी, सोने की ज़ंजीरी और बच्चे के लिए लाल ओढ़ना, मोज़े, कंगन, खनकना, तड़ागी (करधनी) कई बार तड़ागी दाई ही बांधती है, टोपी, पांच सूट, सोने चांदी का कोई गहना लेकर पहुंचने लगते हैं, किंतु मां को अपना नवजात शिशु पहली बार मायके घर लाने की और वहां से तोहफे की शक्ल में वस्त्र वगैरह लाने की खुशी होती है–

नानकियां न जावांगे / झग्गा चुन्नी लयावांगे/ नानी दित्ता घिओ
जीवे लाल दा पिओ/ लाल नू लोरी देवां।

(ननिहाल जाएंगे। कुरता-चुनरी लाएंगे। नानी घी देगी। तेरे पिता की आयु लंबी हो। मैं तुझे लोरी सुनाती हूं)।

बच्चे की चाची, बुआ, बहन, दादी इत्यादि की विभिन्न भावनाओं में ज़िंदगी के दुख-सुख की ओर संकेत करने वाले विषयों का ज़िक्र भी लोरियों में मिलता है। लोरियों में बच्चे के प्रति खुशियां और उम्मीद-भरी उमंगों का ज़िक्र तो आम ही मिलता है, परंतु समाज में ग़रीब परिवारों के रोज़गार और आर्थिक मंदी को भी कहीं-कहीं चित्रित किया गया है– *अल्ला वाली कुल दा।/ दाना फुलका गुल दा।/ ग़रीबा दे वासते।/ दुपहरे कुंडा खुलदा।*

अर्थात् अल्लाह (ईश्वर) सारी कायनात (सृष्टि) का मालिक है, किंतु इसके बावजूद भी ग़रीबी से लड़ रहे परिवारों को अनाज मोल लेना पड़ता है। दुख की बात है कि उनके लिए गोदाम का कुंडा (दरवाज़ा) भी सारे दिन में केवल एक ही समय दोपहर को ही खुलता है। मां का कहना है कि उसका लाल थोड़ा-सा और सब्र करे तो वह उसके लिए खाने-पीने का प्रबंध करेगी। विषय-वस्तु की दृष्टि से लोरियों में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पहलुओं के अलावा रिश्ता-प्रबंध का प्रसंग मिलता है। इनमें अतीत की झलक मौजूद है और वर्तमान और भविष्य का हवाला भी है। चरखे की घूं-घूं, दूध, घी, पशु-धन, झूले, किलकारियां और खेल इत्यादि का वर्णन मिलता है। हाथी, घोड़े, कुत्ते, बिल्लियां, मछलियां, चिड़ियों की विभिन्न हरकतें दृष्टिगत होती हैं। दूध, मलाई, मक्खन, गुड़, शक्कर, चीनी, खीर, दाने मेवे, पंजीरी, लड्डू-पेड़े, बरतन, खेल-खिलौने इत्यादि का वर्णन भी बार-बार आता है क्योंकि माताओं के द्वारा बच्चों को लोरी देने का समय झुलसती दोपहर से लेकर रात तक होता है, इसलिए डूबते सूरज, चंदा मामा, तारे, आसमान और घरों को वापस लौटते पंछियों का वर्णन भी लोरियों में देखने को मिल जाता है। यह दृश्य चित्रण लोरियों की सार्थकता में बढ़ोतरी करता है। इसके अलावा इन लोरियों में परी देश से संबंधित बातें भी हैं। कल्पना और स्वप्नमयी संसार भी है। दूध की नहरें हैं, रंग-बिरंगे झूले हैं। इस तरह समूचा वातावरण ही बच्चे की धरोहर होता है। मां एकतरफ़ा संवाद के द्वारा दीवार पर बैठे पक्षी को संबोधित कर रही होती है, किंतु सुना अपने बच्चे को रही होती है, जो उसकी गोद में लेटा ममता का आनंद ले रहा होता है। मां अपने बच्चे को सोने के गहनों से लाद देना चाहती है। एक लोरी में ऐसा ही एक भाव प्रस्तुत हुआ है– *उड़ वे कांवां सुनिआरे दे जावां /कड़े घड़ावां।/ काके हथीं, पावां।/ नेड़े ना आवन/ तत्तीयां हवावां।* (कौवे! तू उड़ जा। मैं सुनार के पास जाऊंगी, उससे सोने का कंगन बनवाकर अपने नन्हे से बेटे के हाथ में डालूंगी। मेरे बेटे को कभी कोई संकट न आए।)

झूले और लोरी का आपस में गहरा रिश्ता रहा है। अपने बच्चे को किसी चादर, चुन्नी या शाल आदि के किनारों को मज़बूती से रस्सियां बांधकर नजदीक के किसी पेड़ के नीचे लटकती मज़बूत टहनी से दोनों तरफ़ या कई बार चारपाई के साथ बांध दी जाती थी। किसी अन्य स्त्री को उसे झूला देने को बोल देती थीं, यदि बच्चा फिर भी चुप न होता तो मां आकर उसे दूध पिलाती, लाड लड़ाती, झुलाती और लोरी सुनाकर फिर से झूले में डालकर सुला जाती और फिर से अपने काम में जुट जाया करती थी। लोरियों में बच्चे के गुणों का भी चित्रण होता है। कई बार बच्चा किसी कारणवश जल्दी नहीं सोता या बेचैनी महसूस करता है तो उसकी मां नींदिया रानी को जल्दी आने को बोलती है क्योंकि जंगल, पर्वत, दरिया के रूप में समूची प्रकृति सो चुकी है जबकि उसका लाल अभी तक जाग रहा है–

जंगल सुत्ते, परवत सुत्ते, सुत्ते सब दरिया।
अजे जागदा साडा काका नींदे, छेती आ।
ऊं ऊं....ऊं ऊं।

(जंगल, पर्वत, दरिया सब सो चुके हैं लेकिन मेरा बच्चा अभी तक जाग रहा है। इसलिए ऐ नींद! तुम भी जल्दी आ जाओ।)

पंजोखड़ा (अंबाला) की लोरी का एक नमूना है, जिसमें मां बच्चे को सुलाने की कोशिश करती हुई उसके लिए मंगवाए तरह-तरह के फल-मेवों का वर्णन करती है, जो उसके सोने और फिर जागने की सूरत में ही दिए जाने का ज़िक्र है– *बुल्ला आया चांद से/ मैं मुखड़ा देखूं मांग के/ झपके सो जा रे.../बुल्ला सो जा रे.../बुल्ला जो आयो दूर से/मने मंडे पकाए तंदूर के/पल झिप सों जा रे...।* (इस लोरी में बच्चे की चांद से तुलना करके उसके लिए अच्छे-अच्छे पकवान, मेवे मंगवाने का ज़िक्र है। इसके साथ ही मां उसे बहादुर बच्चा कहती हुई रोने से मना करती है और उसे सोने के बाद फिर जागने की बात कहती है।)

वर्तमान युग में वैज्ञानिक गति की तेज़ी से जीवन-गति तेज़ होने के कारण लोरी काव्य-रूप में बहुत धुंधली होती जा रही है। फिल्मी गानों की धुनें लोरियों का स्थान ले रही हैं, जिस कारण लोरी में बनावटीपन पैदा हो रहा है, वैश्वीकरण और मशीनी युग के दौर में आर्थिक, भौतिक प्रदर्शनी में उलझे माहौल के कारण दादी-नानी का पहले वाला स्नेह नहीं रहा जिसमें लोरियों की धरोहर की अलग ही छटा नज़र आती थी। घरेलू काम करने वाली माएं, दादियों-नानियों ने अपने-आप को रोज़मर्रा के कामकाजों में इतना मग्न कर लिया है कि उनके पास नवजात शिशुओं को लोरी देने का समय नहीं रहा। आज शहरों में ज्यादातर माएं नौकरीपेशा हैं और वे संयुक्त परिवारों से टूटती जा रही हैं। उनके पास न तो लोरियों का भंडार ही रहा है और न ही लोक कहानियों की पूंजी। आधुनिक पंजाबी लोक मन ने इस काव्य-रूप लोरियों को नहीं भुलाया। यह बात अलग है कि दिन-ब-दिन घटित होने वाली सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक या भौगोलिक परिस्थितियों ने इसके ऊपर अपना प्रभाव ज़रूर डाला है, किंतु जटिल परिस्थितियों में पंजाबी लोरियों ने अपनी पहचान समाप्त नहीं होने दी, यह इस काव्य-रूप के शक्तिशाली सामर्थ्य का ही प्रमाण है। लोरियां हमारी अनमोल पूंजी हैं। इस पूंजी को सहेजकर रखना आवश्यक है। ❑

संपर्क : पंजाबी विश्वविद्यालय कैंपस, पटियाला-147002 (पंजाब)

संपूर्ण बाल साहित्य : रामवृक्ष बेनीपुरी (भाग-1 और 2) : संकलन-संपादन : महेंद्र बेनीपुरी; प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, 4/7, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 650 रुपये।

हिंदी साहित्य को अपनी जादुई भाषा और गद्य की विविध विधाओं से समृद्ध करने वाले रामवृक्ष बेनीपुरी का बाल साहित्य में भी अविस्मरणीय योगदान रहा है। 23 दिसंबर 1899 को बेनीपुर, मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार) के एक साधारण किसान परिवार में जन्मे बेनीपुरी हिंदी बाल साहित्य के प्रारंभिक युग के एकमात्र ऐसे लेखक थे जिन्होंने योजनाबद्ध तरीके से बड़े पैमाने पर न केवल बाल साहित्य लिखा बल्कि बच्चों की पत्रिका *बालक* का प्रकाशन-संपादन भी किया।



बेनीपुरी जी ने अनेक बाल उपन्यास, बाल कथाएं, महापुरुषों की जीवनियां, ज्ञान-विज्ञान से संबंधित साहित्य और बच्चों को प्ररित करने वाली साहस कथाएं भी लिखीं। हाल ही में उनका 'संपूर्ण बाल साहित्य' दो भागों में प्रकाशित हुआ है, जिसका संकलन-संपादन उनके पुत्र महेंद्र बेनीपुरी ने किया है। संपादक की भूमिका 'अपनी बात' से पता चलता है कि बेनीपुरी जी ने अपने निधन से चार साल पहले यानी 1964 में ही अपनी सारी पुस्तकों का बंटवारा अपने तीनों बेटों–देवेंद्र (बड़े) जितेंद्र (मंझले) और महेंद्र (छोटे) में कर दिया था। *संपूर्ण बाल साहित्य* के पहले भाग में बड़े पुत्र देवेंद्र बेनीपुरी के हिस्से आई पुस्तकों को शामिल किया गया है, जिनमें 'लंगट सिंह' (1926), 'फूलों का गुच्छा' (1938), 'अमृत की वर्षा' (1952), 'रंग-बिरंग' (1942), 'पद-चिह्न' (1938) तथा 'इनके चरणचिह्नों पर' (1949) हैं। दूसरे भाग में छोटे पुत्र महेंद्र बेनीपुरी के हिस्से आई किताबों को शामिल किया गया है। इनमें–'अमर कथाएं' (1948), 'हम इनकी संतान हैं' (1949), 'संसार की मनोरम कहानियां' (1950), 'सियार पांडे' (1925), 'अनोखा संसार' (1942), 'गुरु गोविंद सिंह' (1926), 'हीरामन तोता' (1927), 'बेटियां हों तो ऐसी' (1948) तथा 'साहस के पुतले'।

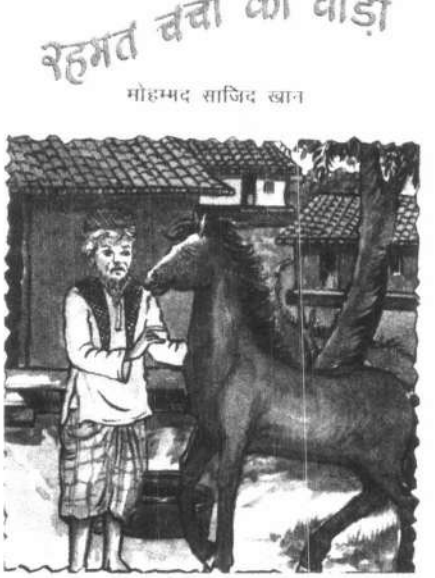
बेनीपुरी के मंझले पुत्र जितेंद्र कुमार की अस्वस्थता और उनके वारिसों की उदासीनता के कारण उनके हिस्से आई किताबों को इन दोनों भागों में शामिल नहीं किया जा सका है। अतः बेनीपुरी जी के सर्वाधिक चर्चित लघु बाल उपन्यास *बगुला भगत* और अन्य बहुत सारी बाल रचनाओं को इन दो खंडों के 'संपूर्ण बाल साहित्य' में ना पाकर पाठक निराश हो सकते हैं। हम उम्मीद करते हैं कि भविष्य में बेनीपुरी जी के मंझले पुत्र और उनके वारिसों का सहयोग संपादक महेंद्र बेनीपुरी को प्राप्त होगा और वे बेनीपुरी जी की शेष बाल रचनाओं को तीसरे भाग के रूप में पाठकों तक अवश्य पहुंचाएंगे।

रहमत चचा का घोड़ा : मोहम्मद साजिद खान; प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : 65 रुपये।

बाल साहित्य के क्षेत्र में मोहम्मद साजिद खान पिछले लगभग दो दशकों से रचनारत हैं। कविता कहानी, बाल उपन्यास और विज्ञान कथाओं के इनके अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। *रहमत चचा का घोड़ा* इनका नया कहानी संग्रह है जिसमें चार लंबी कहानियां संग्रहीत हैं। गांव की पृष्ठभूमि पर लिखी गई ये कहानियां किशोरों और बड़ों की उस दुनिया से हमें परिचित कराती हैं जिसमें मनुष्यों, जीव-जंतुओं और प्रकृति के बीच बनते-बिगड़ते मानवीय रिश्तों की सच्चाइयों को हम महसूस कर सकते हैं।

'अफरे में बसा गांव' के चाहे लोटन और सहोदर हों या 'हादसा' कहानी के जमन मियां, जिन्हें उन्हीं के आसपास के स्वार्थी और लालची लोगों ने इस कदर लाचार बना दिया था कि एक उसूलों भरी ईमानदार ज़िंदगी जीना भी उनके लिए दुश्वार हो गया।

'रहमत चचा का घोड़ा' कहानी में झबरीले कुत्ते की दर्दनाक मौत के बाद से घोड़ा रहमत चचा की ज़िंदगी के और करीब आ जाता है। तांगा चलाने वाले रहमत चचा के लिए घोड़ा मात्र कमाई का साधन नहीं था। वह उनका हमदर्द था। बुढ़ापे का सहारा था। घोड़े को जब कभी वह सुस्त देखते



तो उस दिन काम पर नहीं जाते। चाहे घर में फाका ही क्यों न करना पड़े। पर घोड़ा हिनहिनाकर मानो इस बात का संकेत करता कि–"नहीं, मैं ठीक हूं। आप मुझे ले चलिए तो सही।" और रहमत चचा समझ जाते उसकी मूक भाषा। फिर हंसते हुए कहते–"नहीं भई! आज नहीं, कल चलना! कहीं तुम्हें कुछ हो गया तो?" कहते-कहते उनकी आंखें

भर आतीं। ऐसे दयालु रहमत चचा सर्दियों में घोड़े के बचाव के लिए छप्पर-छानी वाला मिट्टी का घर बनाते-बनाते ऐसे बीमार पड़े कि एक सुबह सारे गांव में कोहराम मच गया–रहमत चचा अब इस दुनिया में नहीं रहे। रहमत चचा की मौत के बाद घोड़े की मनःस्थिति का चित्रण जिस मार्मिकता से लेखक ने किया है वह अद्‌भुत है!

इसी तरह से 'बदलाव' कहानी को लेखक ने पूरी तरह से डूबकर लिखा है। जैसे वह उसकी अपनी ही कहानी हो। अपने पिता के कहने पर वह बचपन में एक बार अपने पैतृक गांव करीमपुर गया था, जहां उसे भुलई बाबा, लुंगरू, नन्हे दोस्त ननकू और बुलबुल आदि अनेक आत्मीय लोग मिले थे। बचपन की उसी खुशनुमा याद को संजोए हुए वह बड़ा होने पर जब एक बार फिर उसी गांव में पहुंचता है तो वहां सब कुछ बदल चुका होता है, यहां तक कि गांव का नाम करीमपुर से बदलकर 'कमलपुर' हो चुका है। यह 'बदलाव' उसके मन में कई सवालों को जन्म देता है और वह वापस शहर की ओर लौटने को विवश हो जाता है।

संग्रह की कहानियां एक लघु उपन्यास की-सी विषयवस्तु अपने में समेटे हुए हैं और पाठकों को बदलते ग्रामीण जीवन के सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ से रू-ब-रू कराती हैं।

–श्याम सुशील

बचपन की खट्टी-मीठी स्मृतियां

बड़ों का बचपन : संजीव ठाकुर; प्रकाशक : एकलव्य प्रकाशन, भोपाल; पृष्ठ : 177; मूल्य : 90 रुपये।

महादेवी वर्मा ने कहीं लिखा है, 'अतीत चाहे कितना भी दुखद (या सुखद) क्यों न हो, उसकी स्मृतियां हमेशा मधुर लगती हैं।' फिर अगर ये स्मृतियां बचपन से जुड़ी हों तो फिर कहना ही क्या! कहने की ज़रूरत नहीं कि हम सभी के जीवन के सबसे प्यारे, खूबसूरत और सुनहले पल बचपन से ही जुड़े होते हैं जिनकी स्मृतियां पूरी ज़िंदगी हमें बरबस ही जब-तब मुस्कराने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। क्योंकि बचपन चाहे सामान्य जन का हो या महान शख्सियतों का, उनमें बहुत कुछ एक समान ही होता है। एक जैसी ज़िद, ज़रा-सी बात पर रूठना फिर अगले ही पल हंसना, छोटी-छोटी बचकानी ग़लतियां और भी ऐसी बहुत-सी हरकतें, जिनकी वजह से बचपन 'बचपन' बनता है और शायद यही उसकी खूबसूरती भी होती है।

देश-विदेश के अलग-अलग क्षेत्रों से संबंधित कुछ महान हस्तियों के बचपन की ऐसी ही खट्टी-मीठी स्मृतियों को रोचक शैली में संकलित किया गया है, पुस्तक *बड़ों का बचपन* में। सुपरिचित समीक्षक और बाल साहित्यकार संजीव ठाकुर ने, 29 प्रसिद्ध शख्सियतों के बचपन से जुड़े कुछ प्रेरक और रोचक प्रसंगों को इस पुस्तक में संकलित किया है। जहां एक ओर ये प्रसंग पाठकों का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं, जिनकी वजह से उन व्यक्तियों के जीवन की दिशा बदली और वे सफलता के सोपान चढ़ते हुए एक अलग मुकाम हासिल करने में सफल हुए तो वहीं दूसरी ओर यह भी प्रमाणित हो जाता है कि आगे चलकर भले ही इन हस्तियों ने अपनी अलग पहचान बनाई लेकिन बचपन में वे सभी किसी दूसरे सामान्य बच्चे की तरह ही हरकतें किया करते थे। वैसी ही शैतानियां, वैसी ही ज़िद, ग़लतियां और बचकानी बातें। इस लिहाज़ से यह पुस्तक बच्चों को प्रेरित कर सकती है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से ही महान या विशिष्ट नहीं होता है बल्कि अपनी बुद्धि, विवेक और भिन्न दृष्टि के साथ लक्ष्य के प्रति एकाग्रता के चलते ही अलग मुकाम हासिल करता है।

समीक्ष्य कृति के संयोजन में लेखक की इस बात के लिए तारीफ़ की जानी चाहिए कि उन्होंने अनेक क्षेत्रों से संबंधित हस्तियों को इसमें सम्मिलित किया है। ज़ाहिर है, इसके लिए उन्हें बेशुमार आत्मकथाओं और जीवनियों का अध्ययन करना पड़ा होगा। इसमें दार्शनिक (रूसो), साहित्यकार (रवींद्रनाथ टैगोर, रामवृक्ष बेनीपुरी, गोर्की, शरतचंद्र, अमृता प्रीतम, विष्णु प्रभाकर), स्वतंत्रता सेनानी (महात्मा गांधी, लालबहादुर शास्त्री, रामप्रसाद बिस्मिल), गणितज्ञ (रामानुजन), अभिनेता (अशोक कुमार, चार्ली चैपलिन, ए. के. हंगल), चित्रकार (राजा रवि वर्मा), संगीतकार, नर्तक (ब्रजमोहन मिश्रा), भारत के पूर्व राष्ट्रपति (राजेंद्र प्रसाद, ज़ाकिर हुसैन और एपीजे अब्दुल कलाम) सहित इंदिरा गांधी, माओत्से तुंग, भीमराव अंबेडकर, मलिका पुखराज और फकीर मोहन सेनापति भी शामिल हैं। इसके लेखन के लिए लेखक द्वारा अपनाई गई 'आत्मकथात्मक शैली' इसे और भी प्रभावी बनाती है। हालांकि इसमें सम्मिलित सभी हस्तियों के विभिन्न प्रसंग रोचक और प्रेरक हैं, लेकिन उनमें भी कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मिसाल के तौर पर शरतचंद्र चटर्जी पर केंद्रित अध्याय में बच्चे और किशोर यह प्रेरणा ले सकते हैं कि विपरीत परिस्थितियों के होने के बावजूद उनके भीतर पढ़ने का जुनून कम नहीं हुआ और किस तरह उन्होंने सभी परेशानियों को दरकिनार करते हुए अपनी लेखन-यात्रा पर चल पड़े? इसी तरह राजा रवि वर्मा का प्रसंग भी इस नज़रिए से बच्चों के लिए प्रेरक है कि रंगों और रेखाओं के प्रति बेहद लगाव के बाद भी उन्होंने कभी भी अपने प्रति, प्रशिक्षक के उपेक्षित व्यवहार के बदले ग़लत या अमर्यादित प्रतिक्रिया नहीं की और अपनी धुन में रमे रहे। इसी तरह राजेंद्र प्रसाद का छोटी उम्र में ही देशप्रेम और स्वदेशी अपनाने को लेकर किया गया संकल्प, महात्मा गांधी का चोरी करने के बाद भी सहज और ईमानदार स्वीकृति, अभावों और प्रतिकूलताओं के साथ जीने के बाद भी अध्ययनशीलता के प्रति रूसो की लगन, सादगीपूर्ण-सहज और सरलता के साथ माली से नैतिक जीवन का पाठ सीखने वाले लालबहादुर शास्त्री समेत अनेक प्रसंग, शिक्षाप्रद ही नहीं प्रेरणादायी भी हैं।

हालांकि पुस्तक के कुछ अध्यायों में संबंधित घटनाओं के कैरीकेचर भी प्रकाशित किए गए हैं लेकिन बेहतर होता कि सभी हस्तियों के युवा या प्रौढ़ावस्था की तस्वीर भी साथ में प्रकाशित की जाती। बच्चों को ध्यान में रखकर लिखी गई इस पुस्तक में बच्चों के प्यारे 'चाचा नेहरू' के बचपन की स्मृतियों को शामिल न करना अखरता है। इसी तरह कुछ स्थलों पर भाषा क्लिष्ट और अस्पष्ट हो गई है। बच्चों के लिए पुस्तक लिखे जाते समय भाषा की सरलता के साथ ही स्पष्टता का भी ध्यान रखा जाना चाहिए था। बहरहाल, इस पुस्तक के ज़रिए लेखक ने एक बड़े अवकाश को भरने का सफल प्रयास किया है क्योंकि इसमें कुछ ऐसी शख्सियतों को भी शामिल किया गया है, जिनके बचपन से जुड़ी पाठ्य-सामग्री बहुत कम ही उपलब्ध है।

–विज्ञान भूषण

तीन बाल कविताएं

बिटिया

ममता सिंह

नन्हें हाथों में बस्ता थमाकर
मां बोली, तुम पढ़ लो बिटिया

चूल्हा-चौका, बर्तन-बासन
मैं कर लूंगी, तुम पढ़ लो बिटिया।

ना कोई अक्षर बूझ सकी मैं
इस चौखट से ना जूझ सकी मैं

सूरत मेरी पायी तुमने
किस्मत मेरी ना पाना बिटिया।

कांटो भरी इस डगर में
अपना आंचल ना उलझाना बिटिया।

जो सपने मैं देख रही हूं
उसमें रंग सजीले, भर लो बिटिया।

पढ़-लिखकर नई नारी की
मूरत तुम गढ़ लो बिटिया!

संपर्क : ग्राम-बढ़मुआ, पोस्ट-बेला, सीतलपुर, जिला-सारण (बिहार)

बच्चे !

शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी

छोटे पौधे ने
उठा लिया है सिर
पड़ रही है उस पर बारिश
मूसलाधार।
तेज़ झोंके चल रहे हैं
हवा के
क्या होगा उसका।
छाता तानकर
खड़ा है नन्हा वीर
डरो मत! नहीं होगा कुछ
बहुत मज़बूत है यह!

संपर्क : हिंदी भवन, विश्वभारती, शांति निकेतन (पं. बंगाल)



वह गुड़िया

पूनम श्रीवास्तव

छोटी-सी उम्र में कमाने लग जाती है
वो नन्हीं-सी गुड़िया सयानी बन जाती है।

नन्हीं-सी जुबान है पर बातें हैं बड़ी-बड़ी
वो नन्हीं-सी गुड़िया बतियाने लग जाती है।

औरों की उतरन पहन कर भी खुश
वो नन्हीं-सी गुड़िया इतराने लग जाती है।

तरेरती हुई आंखों से थोड़ा-सा सहम जाती
वो नन्हीं-सी गुड़िया फिर काम पर लग जाती है।

हाथों में लाडलों के बैग व किताब देख के
वो नन्हीं-सी गुड़िया पढ़ाना सीख जाती है।

काम को करते हुए बातें की इधर-उधर
वो नन्हीं-सी गुड़िया सबकी मुख़बिर बन जाती है।

लोगों के देख के रंग-ढंग और संग
वो नन्हीं-सी गुड़िया सपने सजाने लग जाती है।

खेलने की उम्र में ही, सीखने की उम्र में ही
वो नन्हीं-सी गुड़िया दादी अम्मा बन जाती है।

संपर्क : आर.एस. 2/108, राज्य संपत्ति आवासीय परिसर, सेक्टर-21, इंदिरानगर, लखनऊ-226016

डाक तार पंजीयन सं. डीएल (एस)-05/3222/2012-14 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस U (DN)49/2012-14

Postal Regn No DL(S)-05/3222/2012-14

Licenced U (DN)49/2012-14 to post without pre-payment at RMS Delhi

दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Delhi Postal R N I 701/57

वार्षिक मूल्य : 100 रुपये



प्रकाशक व मुद्रक : ईरा जोशी, अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग के लिए चार दिशाएं प्रिंटर्स प्रा. लि., जी-40, सेक्टर-3, नोएडा से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित।